VOL. VII PART-IV AUGUST 2001 (BI-MONTHLY)

JOTI JOURNAL

न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान

उच्च न्यायालय, जबलपुर - 482 007

JUDICIAL OFFICER'S TRAINING INSTITUTE
HIGH COURT OF MADHYA PRADESH
JABALPUR-482 007
☎ 325995

नया अध्याय

समय बीत गया। बीतना ही था। किसी के रोकने से वह रुकना नहीं था।

मार्च अप्रैल माह में हर एक की आशा रही होगी, भय रहा होगा या इच्छा रही होगी, कोई चाहता होगा इस स्थान से अब जाना अच्छा है, किसी की यह इच्छा होगी कि अभी यहीं बना रहूँ तो अच्छा है। किसी का मन आतुर हुआ होगा कि कितना अच्छा होगा यदि मेरे गृह जिले के पास पदस्थापना हो जाए। हरेक की अपनी इच्छा थी। आशा थी। सपना था। आशा मृग मरीचिका है तो स्वप्न पानी का बुदबुदा है।

इच्छा हमेशा ही पूर्ण होती हो ऐसी बात नहीं है। इच्छा और आशा या तो पानी पर लिखे शब्द हैं या सपने में किया गया चिंतन है। ये हमारे वश में नहीं है।

सपना तो ऐसा होता है जो निद्रा अवस्था में या तंद्रा अवस्था में देखा जा सकता है। सपने में हम न जाने क्या क्या देख लेते हैं। सपने में आप स्वयम् को चोर के रूप में या साहूकार की अवस्था में भी देख लो तो आप जो हैं जैसे हैं वैसे ही रहोगे जब निद्रा अवस्था बिखर जाएगी।

सपने टूटते नहीं हैं। परिदृष्य बदलते रहते हैं। टूटती हैं तो निद्रावस्था।

मार्च अप्रैल की वह अवस्था अब नहीं है। क्षितिज पर पुनः लालिमा आ गई है। नवोदय हुआ है। बीती रात अब नहीं रही। जो नहीं रहा उसका क्या सोच क्या शोक। नया सूर्योदय है, वास्तविकता है। जगना एक बात है, जागृत होना दूसरी बात है लेकिन चैतन्य अवस्था में प्रवेश करना महत्वपूर्ण है। चैतन्य अवस्था तब होगी जब शरीर, मन, मस्तिष्क एवं आत्मा लयबद्ध हो। चैतन्य अवस्था की एक पूरक स्थिति अंतःकरण की स्वयं की अनुभूति भी है। जहां अंतः करण बदला तो आचरण बदल जाता है।

स्थान परिवर्तन – अपरिवर्तन जो है सो सही है लेकिन ये भी सही है कि सत्र परिवर्तित होकर नया सत्र शुरू हुआ है।

नया साल अंग्रेजी कैलेन्डर अनुसार हो या अन्य किसी –रीति रिवाज (नेटिव प्लेस) अनुसार हो। वैसे तो बीते हुए वर्ष के कल और आये हुए नव वर्ष के आज में कोई अंतर नहीं है लेकिन फिर भी हम अंतर करते हैं विशेष रूप से उत्सुकता से उमंग से आशा से विश्वास से कि जो हुआ भूल जाओ नये साल में कुछ अच्छा करेंगे। अच्छा करने के लिए महत्वाकांक्षाओं का होना चाहिये। वे दंभ के विपरीत होती है। महत्वाकांक्षा के पीछे किसी व्यक्ति का आदर्श छिपा होता है। हरेक का कोई न कोई आदर्श पुरूष होता है। आदर्श पुरूष वह नहीं होता जिससे स्वार्थ पूर्ति की आशा रखी जाती है। विपरीत, वह होता है और होना चाहिये जिसने अपने क्षेत्र में स्थान बनाया है। कुछ आदर्श क्षणिक होते हैं जो बाल्य एवं किशोर अवस्था में सामान्य रूप से हुआ करते हैं। लेकिन व्यक्ति जैसे जैसे स्थापित होता जाता है आदर्श बदलने के साथ स्थिर हो जाता है।

हम आप अपने जीवन में स्थापित हो गये हैं। जीवन का लक्ष्य हमें मालूम है। हम जिस पद पर पदस्थ हैं अर्थात न्यायाधीश के रूप में, वही हमारा प्रथम व अंतिम लक्ष्य होगा। यदि इसे हमने अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है तो हमारा आदर्श क्या हो सकता है? न्यायाधीश के लिए इससे बेहतर आदर्श क्या होगा कि उस आदर्श को जीवन में परिणित करें। लक्ष को परिणित करना अर्थात स्वयं को उसके साथ एकाकार कर देना है। न्यायदान न्यायाधीश का लक्ष्य भी है व गुण भी है। लक्ष्य प्राप्त करने हेतु निकले वीर के लिए, रेड कार्पेट तो बिछाई हुई नहीं होती है। मार्ग पक्का भी नहीं है। रेड कार्पेट जिनके लिए बिछाई जाती है उन पर चलने वालों को दूसरे लोग फिर भी मार्ग दिखाते चलते हैं कि सर ! इधर मुड़ना है यहां बैठना है, आइये पधारिये,

बैठिए। वीरों को रास्ता बनाना होता है और वे बनाते हैं। जो वीर रेत पर से गुजर गए उन्होंने अपने पैरों के निशान छोड़े हैं यही हमारे लिये रेड कार्पेट है। यही मार्ग है जो दर्शाता है कि मार्ग कठिन है लेकिन लक्ष्य सुखद है रास्ता तय हो जाएगा। तादात्म्य स्थापित कर लेना। राह पर चल दो !

राह पर निकल पड़ो तो रहबर मिल जाएगा/होगा वह आदिल (न्यायनिष्ठ) तो मंजिल तक ले जाएगा।

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

●

दूसरा पहलू

झूमो, नाचो - गाओ

वर्षा रानी की कृपा से सारी पृथ्वी हरियाली चुनरी ओढ़कर हमें बुला रही है कि आओ क्षण भर ही सही मेरे साथ नाचो, गाओ, दौड़ो, उड़ों और खुशियां ले जाओ। जी हां चारों ओर हरियाली ने यह घोषणा कर दी है कि मैं पुनः तुम्हें खुशियां देने आ गई हूं। वर्षा की फुहारे तन मन को भिगो गई है और प्रकृति देवी तो मानो कह रही है उठो यह घर में बंद होकर बैठने का समय नहीं है। मेरे पास आओ साल भर के लिए मेरी हरियाली मेरी खुशी से अपने अपने हाथों को भर लो, आखों में बसालो दिल में बिठा लो कि कहीं कोई खाली कोना न बचे। यही तो है मेरी खुशी का राज हर साल सबको सुख समृद्धि देने के लिये तुम्हारे पास मैं आती हूँ। बंधुओं ! यह वर्षा ऋतु का मौसम है ही इतना प्यारा कि हमें पूरे साल की खुशियां देना चाहता है। क्या कहीं आपमें यूनिट का भूत सवार है तो उस भूत को सिर से उतारो और जरा अपनी खिड़की से बाहर देखो वो खिलता हुआ सूरज, बादलों में छिपता, हंसता, खिलखिलाता सूरज कभी धूप कभी छांव वाला प्यारा इन्द्रधनुषी आकाश। घनघोर बरसता आकाश, तारों भरा पूरी अमावस व पूनो वाला चमकता आकाश। मानों इस समय सारी प्रकृति अपने तरीके से त्यौहार मना रही है।

हम सब न्यायाधीश हैं और सेवानिवृत्ति तक हमें यह पवित्र कार्य न्यायदान का करना है लेकिन दूसरे के साथ न्याय करने के साथ–साथ हमें अपने स्वयं व परिवार के साथ भी न्याय करना है। इस समय प्रकृति हमें जो उपहार दे रही है वह खुशियों से ले लो जिसका कि आनंद साल भर तक अपना कार्य करने के लिये हमें शक्ति व उत्साह देता रहेगा। सभी अपने–अपने स्थानों पर अच्छे से स्थापित हो गये होंगे और रोज की दिनचर्या घर से कोर्ट व कोर्ट से घर की परिक्रमा की चालू हो गई होगी। अतः इसी परिक्रमा के दौरान जो बीच–बीच में प्रकृति अपने रंग दिखाती है उसे भी नजर भर के देखने की कृपा करें आंखों में शीतलता, होठों पर हंसी, दिल में खुशी का अनुभव होगा। जो आपकी परिक्रमा की थकान को दूर करेगा और न्यायदान का पवित्र कार्य दुगने उत्साह से करने के लिए प्रेरित होंगे। तो देर किस बात की है खोल दो सारे दरवाजे, तोड़ दो सारी बंदिशे। बरखा की रिमझिम से तन मन को भीग जाने दो थोड़ी देर के लिए ही सही प्रकृति के साथ रहो। अपनी परेशानी, अपने गम भूल जाओं प्रकृति अपनी खुशी का उपहार देने के लिये वो सामने से तुम्हें आवाज दे रही है। वह कह रही है –

वो चांद खिला, वो तारे हंसे/ये बरसात हुई, ये सूर्य खिला/ हर चीज अजब मतवाली है/
समझने वाले समझ गये है/ना समझे, ना समझे वो .....

सौ. मंजू नामजोशी
अति. निदेशक, ज्योति

अपना ही दोष विवाह विच्छेद अधिकार को निर्मित नहीं करता

(धारा 23(1)क, हिन्दू विवाह अधिनियम)

सौ. मंजू पुरूषोत्तम नामजोशी
अति. निदेशक, ज्योति.

माननीय न्यायाधिपति महोदय श्रीमान सी.के. प्रसाद साहेब **ने अतिरिक्त जिला न्यायाधीशों के प्रशिक्षण वर्ग में हिन्दू विवाह अधिनियम पर एक व्याख्यान दिया था उसमें सर्वोच्च न्यायालय द्वारा एक आद्यतन न्याय दृष्टांत के आधार से विश्लेषणात्मक व्याख्या की थी। उन विचारों से प्रेरित होकर सौ. मंजू नामजोशी ने यह लेख लिखा है। विचारों में जो स्वाभाविकता है तथा अंतःकरण की जो उद्‌भाविका उपस्थित की है वह क्यों कर उत्पन्न हुई यह बात बताने की क्या संपादक को आवश्यकता है क्या?**

संपादक

विवाह संबंधों को टूटने से बचाने के लिये माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पारित एक महत्वपूर्ण निर्णय जिससे सभी वैवाहिक विवादों को निपटाने वाले न्यायालयों, को एक नया मार्ग दर्शन है, जो कि केवल कानूनी खाना पूर्ति नहीं है अपितु इन विवादों को निराकरण करते समय वैवाहिक संबंधों के संबंध में माननीय सामाजिक अन्य दायित्वों का विचार करना भी है।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ***हीराचंद्र श्रीनिवास मनगांवकर विरुद्ध सुनंदा,*** **सिविल अपील सं. 1473/1999 निर्णय दिनांक 20-3-2001/2001 (1) अपराध निर्णय जर्नल (उच्चतम न्यायालय) 465= (2001) 4 SCC. 125** में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि हिन्दू विवाह अधि. 1955, धारा 13(1–क)1, 10 और 23(1)क के अंतर्गत पति द्वारा अपनी पत्नी व पुत्री का भरण पोषण करने से इनकार करने तथा संबंधों के बीच और अधिक अलगाव पैदा करके रूखापन दिखाना जिससे पुर्नमिलन असंभव हो जावे; ऐसा करके अपीलार्थी पति ने विवाह विषयक दोष किया है, और विवाह विच्छेद का अनुतोष प्राप्त करने के लिये, उक्त दोष का लाभ प्राप्त करने का भी उसने प्रयत्न किया है। एक अन्य दृष्टांत ***(2001) 4 SCC 250 चेतनदास वि. कमलादेवी*** का भी संदर्भ इसी विषय पर दिया जा सकता है।

पति का जारता की दशा में रहना एक चालू रहने वाला अपराध है। यह उस न्यायिक पृथक करण की डिक्री (धारा 10 (1) हिन्दू विवाह अधि. 1955) के पारित हो जाने मात्र से निश्चलीकृत या विनष्ट नहीं हो जाता जो पति पत्नी के कतिपय उन कर्तव्यों और बाध्यताओं को जो उनके विवाह से संबंधित है, केवल निलम्बित करती है। विवाह के बंधन को यकायक तोड़ नहीं देती। ऐसी दशा में उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी पति को विवाह विच्छेद की डिक्री का अनुतोष देने से इनकार करके सही निर्णय दिया है। (निर्णय का चरण 18,20,21) अपीलार्थी पति की अपील खर्चे सहित माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने निरस्त की है।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने अपने इस निर्णय में एक महत्वपूर्ण विधि के प्रावधान की व्याख्या की है। तकनीकी रिती से न्यायिक पृथककरण की डिक्री के 1 वर्ष के अंदर दोनों पक्षों में कोई सहवास का पुनरारम्भ नहीं हुआ है इसी आधार पर पति ने धारा 13(1) हिन्दू विवाह अधिनियम के तहत विवाह विच्छेद के लिये आवेदन प्रस्तुत किया।

प्रत्यर्थी पत्नी ने विवाह विच्छेद के आवेदन पत्र का प्रतिवाद किया उसमें अन्य बातों के अलावा यह भी आधार लिया कि अपीलार्थी पति ने भरण–पोषण के आदेश का पालन नहीं किया न भरण पोषण दिया। इसी

आधार पर विवाह विच्छेद का आवेदन पत्र निरस्त किया जावे। विवाह विच्छेद का अनुतोष प्राप्त करने के लिये अपने स्वयं के दोष का वह लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहा है।

इस प्रत्यर्थी पत्नी के प्रतिवाद पर विचार करने के बाद कर्नाटक उच्च न्यायालय ने एम.एम.ए. नम्बर 1436/1988 में दिनांक 10–4–1995 को निर्णय दिया। पत्नी द्वारा उठाये प्रतिवाद को स्वीकार किया एवं पति अपीलार्थी का विवाह विच्छेद के आवेदन पत्र को निरस्त किया। इसी आदेश के विरुद्ध अपीलार्थी पति ने विशेष इजाजत से अपील सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत की।

इस निर्णय में मुख्य रूप से धारा 13 (1क) के निर्वाचन पर और धारा 10 तथा धारा 23(1) क के प्रावधानों पर प्रकाश डाला है। धारा 13 विवााह विच्छेद व धारा 10 न्यायिक पृथककरण के प्रावधान तो स्पष्ट ही है लेकिन विशेष बल धारा 23 (1)क के प्रावधानों पर दिया है क्योंकि विवाह विच्छेद का न्यायिक पृथककरण या दाम्पत्य अधिकारों की पुर्नस्थापना के आदेश देते समय किन बातों पर विचार करना है यह देखने का कर्तव्य न्यायालय का है। धारा 23(1)क के प्रावधान निम्न है।

धारा 23(1)क. कार्यवाहियों में डिक्री :- (1) यदि इस अधिनियम के अधीन होने वाली किसी कार्यवाही में, चाहे उसमें प्रतिरक्षा की गई हो या नहीं, न्यायालय का समाधान हो जाए कि–

(क) अनुतोष अनुदत्त करने के आधारों में से कोई न कोई आधार विद्यमान है और अर्जीदार उन मामलों को छोड़कर, जिनमें उनके द्वारा धारा 5 के खण्ड (2) के उपखंड (क), उपखंड (ख), या उपखंड (ग) में विनिर्दिष्ट आधार पर अनुतोष चाहा गया है अनुतोष के प्रयोजन से अपने ही दोष या नियोग्यता का किसी प्रकार फायदा नहीं उठा रहा या उठा रही है, और.....

इस प्रकार हिन्दू विवाह अधिनियम के तहत उपरोक्त धारा के तहत पारित की जाने वाली डिक्री देने के पूर्व दावे के संबंध में न्यायालय के समाधान की बात कही है। इस समाधान के लिये दोष का लाभ लेने की पक्षकारों की नीयत को पहचानना आवश्यक है।

धारा 23 हिन्दू विवाह अधिनियम की भाषा ही यह दर्शित करती है कि वह अधिनियम के अधीन प्रत्येक कार्यवाही को नियंत्रित करती हैं। यह कर्तव्य न्यायालय पर डाला गया है कि वह मांगे गये अनुतोष की डिक्री तभी करे जब इस उप धारा में उल्लेखित शर्तें पूरी हो, अन्यथा नहीं।

अपीलार्थी पति ने पत्नी व पुत्री को भरण पोषण को देने से इनकार कर धारा 23 के तहत दोषपूर्ण कार्य किया है तथा अब विवाह विच्छेद का अनुतोष मांगकर वह अपने स्वयं के दोष का लाभ उठा रहा है। निर्णय का चरण 13 का उल्लेख इस प्रकार है। मुल्ला के हिन्दू लॉ में (17वें संस्करण के पृष्ठ 121) कहा गया है।

"सहवास का अर्थ है पति–पत्नी के रूप मे साथ–साथ रहना। वह पत्नी के प्रति पति के रूप में कार्य करने वाले पति से और पति के प्रति पत्नी के रूप में कार्य करने वाली पत्नी से मिलकर बनता है जिसमें पत्नी पति के प्रति गृहिणी के कर्तव्यों का पालन करती है और पति अपनी पत्नी की वैसी संभाल करता है जैसी किसी पति को करनी चाहिए। सहवास आवश्यक रूप से इस बात पर निर्भर नहीं करता कि क्या पति और पत्नी के बीच में सहवास (सम्भोग) होता है या नहीं। यदि रति क्रीड़ा होती है तो वह एक बहुत ही सुदृढ़ साक्ष्य है–यह निश्चायक साक्ष्य हो सकता है कि वे सहवास कर रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि वे मैथुन नहीं कर रहे इसलिए सहवास नहीं कर रहे। सहवास से केवल निवास से भिन्न कुछ विपक्षित है। इसका यह अर्थ होना चाहिए कि पति और पत्नी ने पति और पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करना प्रारंभ कर दिया है और पति और पत्नी के रूप में अपनी हैसियत और स्थिति को उन्होंने संभाल लिया है।"

धारा 13 (1–क) ब धारा 23(1)क प्रावधानों को यदि साथ–साथ पढ़ा जावे तो जो परिस्थिति सामने आती है वे ये है–आवेदक के पास, केवल यह दर्शित कर देने से कि आवेदन पत्र में बताये गये रूप में चाहे गये अनुतोष का समर्थन करने वाले आधार है तब भी दूसरे पक्षकार कें विरूद्ध विवाह की डिक्री का अनुतोष प्राप्त करने का कोई निहित अधिकार नहीं हो जाता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पति–पत्नी के बीच का संबंध मानवीय जीवन से है। मानवीय जीवन लीक पर या कानून द्वारा अभिकथित किये तौर तरीके से नहीं चलता। यह भी ध्यान में रखना है कि विवाह के पक्षकारों के बीच के संबंध को स्थायी रूप से विच्छेद करने की आवेदक की प्रार्थना को स्वीकार करने से पहले उस संबंध की पवित्रता को बनाये रखने का हरेक प्रयास किया जाना चाहिये। इसका महत्व न केवल दो व्यक्तियों या उनके बच्चों के लिए है वरन समाज के लिये भी हैं।

विवाह विच्छेद की डिक्री देना है या नहीं यह प्रत्येक प्रकरण के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता हैं। ऐसी दशा में इस तरह के नाजुक वैवाहिक विवादों के प्रकरणों में समान रूप से लागू होने वाला कोई सामान्य सिद्धांत बनाना बहुत ही खतरनाक व दुखदायी होगा। इस प्रकार अधिनियम का उद्देश्य और प्रयोजन पति–पत्नी के बीच के वैवाहिक संबंध को बनाये रखना है, ऐसे संबंधों को तोड़ देने को प्रोत्साहन देना नहीं। इस प्रकार विवाह विषयक विवादों में अनुतोष सुनिश्चित करने के लिये अवैधता और अनैतिकता को किसी व्यक्ति के सहारे के रूप में प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता।

1981 हिन्दू लॉ रिपोर्ट-पृष्ठ 331 देहली उच्च न्यायालय में कहा है कि–India's divorce law is founded on the concept of the matrimonial offence. Before a marriage can be dissolved, the complaining spouse has to prove that the other spouse is guilty of cruelty, true, cruelty is not a crime (Now defined under S.498A of the I.P.C.) but the offending spouse has nevertheless to be found guilty. Though in some jurisdictions the term "guilty of cruelty" is used instead of "treated with cruelty". This concept of guilt is the underlying assumption in the divorce law for breaking an indissoluble union against the will of the offending spouse. On grant of the relief, each party must forfeit the status of matrimony, one voluntarily, the other involuntarily. But the guilty party cannot take advantage of its own wrong.

एक अन्य दृष्टांत ***मनमोहन वि. कैलाश कुमारी 1984 जे.के. 59-63*** में वहीं बातें अन्य रूप से बताई गई हैं जो वर्तमान निर्णय की दृष्टि से उल्लेखित है। जिसका खुलासा आगे किया है–

दोष या निर्योग्यता शब्द का भेद नीचे अन्य दृष्टांतों में भी बताया है उसमें कहा गया है कि–

The conduct alleged has to be something more than a mere disincination to agree to an offer of reunion; it must be misconduct serious enough to justify denial of the relief to which the husband or the wife is otherwise entitled : ***Ramkali Vs. Gopaldas, 1971 ILR Del 6 (FB), Gajna Devi Vs. Purushottam, 1977 Del 178, Dharmendra Vs. Usha, 1977 SC 2218.***

सर्वोच्च न्यायालय के ***हीराचंद्र विरूद्ध सुनंदा*** के इस निर्णय के कारण कई न्याय दृष्टांत ओव्हर रूल्ड हो गए हैं व नया सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है जिसका विस्तार करके बताया गया है कि अपने ही दोष या निर्योग्यता का लाभ लेने का वास्तविक अर्थ क्या है।

कुछ अन्य दृष्टांत जो अभी तक अस्तित्व में थे इस प्रकार हैं–

The word 'wrong' has been explained in so many judgments.

Wrong is, technically speaking, an injury, & whether in a given set of facts & circumstances it constitutes a wrong or not will depend upon the nature of the case. Non-cohabitation, in a petition for judl separation, may not be a wrong but nonrestitution of conjugal rights in a petition for restitution of conjugal rights wd be a wrong where the Court is satisfied on the lack of bonafide on the part of the party seeking relief on the ground of non cohabitation after the decree was passed. In judicial separation proceedings, the DH may thwart the attempts of the JD to resume cohabitation because he is backed by an authority of law to do so, but in a case for restitution of conjugal rights such a thwarting would be a wrong disentitling the party to seek divorce by taking advantage of his own wrong : ***Man Mohan V Kailash Kumari 1984 JK 59-63.*** (Please go through the whole judgment)

1. A wrong to someone is wrong to everyone : ***Sunil Batra 1980 SC 1579-1600.***
2. Two wrongs never make a right : **1974 SC 31 para 17.**
3. Wrong within the meaning of S 23(1)(a), Hin Mrg Act : The conduct alleged has to be something more than a mere disinclination to agree to an offer of reunion; if must be misconduct serious enough to justify denial of the relief to which the husband or the wife is otherwise entitled : ***Ram Kali v Gopal Das 1971 ILR Del 6 FB, Gajna Devi v Purushottam 1977 Del 178, Dharmendra v Usha 1977 SC 2218 : Meera v Rajinder 1986 Del 136-8.*** The expression 'petitioner' is not in any way taking advantage of his or her own wrong occurring in cl (a) of S 23 (1) of the Act does not apply to taking advantage of the statutory right to obtain dissolution of marriage which has been conferred on him by S 13 (1A). In such a case a party is not taking advantage of his own wrong, but of the legal right following the passing of the decree & the failure of the parties to company with the decree : ***KS Lalithamma v NS Hiriyanniah 1983 Kar-63-6 ; see Geeta v GVRKS, Rao 1983 AP 111-4.***
4. Non payment of alimony by the husband to the wife is undoubtedly a "wrong", but the expression "the petitioner.....is not in any way taking advantage of his or her own wrong" in S23 (1)(a), HM Act must mean such a wrong of which the petitioner can take & is seeking to take advantage in order to obtain a decree or order favourable to him or her. If a husband has suffered a decree for judicial separation at the instance of the wife & does not pay the alimony payable to the wife & then files a petition for divorce against the wife u/s 13 (1A), he would be acquiring no advantage whatsoever in obtaining such a decree, if he is otherwise entitled thereto, on the score of nonpayment of alomony. If such alimony or maintenance is ordered to be paid under the provisions of the HAM Act, 1956 or the Cr PC, & the husband does not comply with the order, the same may under certain circumstances secure an advantage to the wife in obtaining a decree for divorce u/s 13(2)(iii). But no advantage can or does accrue to a husband for his failure to pay any alimony or maintenance to the wife in obtaining a decree for divorce against the wife u/s 13(1A) &, therefore, the husband cannot be said to be in any way taking advantage of such nonpayment within the meaning of S 23(1) (a) in prosecuting his petition for divorce u/s 13(1A).

A husband, against whom a wife has obtained a decree for judl separation is no longer under any obligation to cohabit with the wife & therefore, his failure to do so would constitute no "wrong" within the meaning of S 23(1)(a) to disentitle him from a decree for

divorce u/s 13(1A) : ***Sumitra v Gobinda 1988 Cal 192 FB*** per AM Bhattacharjee & Ghosh JJ, Das Ghosh J contra. overruled by the judgment in Harachand's case **2001 ANJ 465.SC** ***Bal mani vs Jayantilal AIR 1979 Gujarat not approved virtually overruled Dharmendra Kumar vs Usha Kumar 1974 (4) SCC. 12*** Discussed and distinguished.

Attention can be drawn to one more citation reported in ***(2001) 4 SCC 250, Chetan Das Vs. Kamala Devi*** in which it is said that the provisions of Section 13(1) (i-b) and 23(1)(a)(b) & (e) cannot be used as a formula to gain relief of divorce automatically in case of irretievable breakdown of marriage. When party seeking divorce is found in course of Judicial Proceedings to have committed matrimonial offence (in this case adultery) and has been unable to establish any allegation against the spouse a decree of divorce on the ground of irretrievable breakdion of marriage cannot be granted. Erring party cannot be permitted to break the marrital bond by taking advantage of hiw own wrong. In this case there was an offer by spouse who filed petition for divorce on the ground of desertion to live with respondent. The husband had earlier pursuaded wife to live with him on the promise of good behaviour but had continued an adulterous relationship and wife had left him, the husband's offer before the Supreme Court that he has still prepared to keep his wife not sincere and did not deserve to be seriously considered.

इस प्रकार धारा 23(1)क हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रावधानों पर कोई भी आदेश देने के पूर्व न्यायाधीश को गंभीरता से विचार करना है। इसके साथ ही धारा 23(2)(3) मेल मिलाप के प्रावधानों पर भी कोई डिक्री या आदेश धारा 23(1) क के तहत देने के पूर्व करना है क्योंकि मेल–मिलाप की प्रक्रिया भी केवल औपचारिकता नहीं है अपितु इसके लिये ईमानदारी से सकारात्मक प्रयास करना है। घर तोड़ना आसान है जोड़ना कठिन है। पति पत्नी के संबंधों पर विचार करते समय उनका परिवार, परिवेश, सामाजिक दायित्व पर भी विचार करना आवश्यक है। सबसे महत्वपूर्ण है यदि पति–पत्नी के बच्चे भी हो तो उन बच्चों पर पड़ने वाले प्रभाव पर भी विचार करना है।

पति पत्नी के झगड़ों विवादों व कलह से सबसे ज्यादा प्रभावित व उपेक्षित बच्चे होते हैं अतः बच्चों के हित कल्याण व भविष्य के प्रति भी पति पत्नी को सचेत करने का दायित्व मेलमिलाप के समय न्यायालय का है। सारी बातों पर मेल मिलाप के समय समग्र रूप से विचार करना चाहिये इसके बावजूद भी यदि मेल मिलाप का प्रयास सफल नहीं होता तो विवाह विच्छेद अंतिम उपाय तो है ही लेकिन धारा 23(1) क के तहत कोई भी पति पत्नी अपने ही द्वारा किये गये दोष का लाभ न्यायालय को माध्यम बना कर न ले यह ध्यान देने का कार्य हम न्यायाधीशगणों का ही है इसे अच्छी तरह से समझना है तथा प्रकरण की परिस्थिति पर विचार करके निर्णय देना है। (इस संबंध में एक लेख इसी पत्रिका में प्रकाशित किया है।)

HINDU MARRIAGE ACT, SECTIONS 13 (1-A) (1), 10AND 23 (1) (A) :-
2001 (1) A.N.J. (SC) 465=(2001) 4 SCC 125
HIRACHAND VS. SUNANDA

Appellant not only commits the matrimonial wrong in refusing to maintain his wife and further strange the relation creating acrimony rendering any reapproachment impossible but also tries to take advantage of the said 'wrong' for getting the relief of divorce. Living in adultery on the part of husband is a continuing matrimonial offence. It does not get frozen or wiped out merely on passing of a decree for judicial separation which merely suspends certain duties and obligations of the spouses in connection with

their marriage and does not snap the matrimonial ties. High Court was right in declining the relief of a decree of divorce to the appellant.

Paragraph18 of the judgement is reproduced:-

Now we come to the crucial question which specifically arises for determination the case; whether refusal to pay alimony by the appellant is a 'wrong within the meaning of Section 23 (1) (a) of the Act so as to disentitle the appellant to the relief of divorce. The answer to the question, as noted earlier, depend on the facts and circumstances of the case and no general principle or straight jacket formula can be laid down for the purpose. We have already held that even after the decree for judicial separation was passed by the Court on the petition presented by the wife it was expected that both the spouses will make sincere efforts for a conciliation and cohabitation with each other, which means that the husband should behave as a dutiful husband and the wife should behave as a devoted wife. In the present case the respondent has not only failed to make any such attempt but has also refused to pay the small amount of Rs. 100 as maintenance for the wife and has been marking time for expiry of the statutory period of one year after the decree of judicial separation so that he may easily get a decree of divorce. In the circumstance it can reasonably be said that he not only commits the matrimonial wrong in refusing to maintain his wife and further estrange the relation creating acrimony rendering any reapprochment impossible but also tries to take advantage of the said 'wrong' for getting the relief of divorce. Such conduct in committing a default cannot in the facts and circumstances of the case be brushed aside as not a matter of sufficient importance to disentitle him to get a decree of divorce under section 13 (1-A).

With the courtesy of S.C.C. and Eastern Book Company, Lucknow the extract is published.

A. Hindu Marriage Act, 1955-Ss. 13(1-A and 23(1)(a)-Divorce under S. 13 (1-A), held, can be granted only if conditions stipulated in S. 23(1)(a) are satisfied-Therefore if court finds that a person is attempting to take advantage of his own "wrong", in terms of S. 23 (1)(a), for the purpose of gaining the relief of divorce, the court is bound to refuse such relief-Where respondent wife had obtained a decree of judicial separation on ground of husband's adultery and court had also ordered husband to pay maintenance to wife and daughter, held on facts, not paying maintenance and continuing to live in adultery were "wrongs" committed by husband for the purpose of S. 23 (1)(a)-High Court rightly dismissed appellant husband's petition for divorce under S. 13 (1-A)

B. Hindu Marriage Act, 1955- S. 13(1-A) - Purpose of sub-section (1-A), held, is to expand the right to apply for divorce, not to make the grant of divorce mandatory, merely on proof that there was no cohabitation or restitution of conjugal rights for the requisite period.

C. Hindu Marriage Act, 1955- Ss. 13(1-A) and 23 (1)(a)- Held, the two sections read together indicate that a petitioner seeking divorce under S.13(1-A)(i) does not have any vested right to the relief of divorce.

D. Hindu Marriage Act, 1955-Ss. 13 and 13(1-A) - Divorce-Held, before divorce is granted every attempt should be made to maintain the sanctity of the marital relationship between the parties as that relationship is important not only for the individuals concerned and their children, but also for society at large.

E. Hindu Marriage Act, 1955-S. 10- Judicial separation-Held, provision clearly provides that decree of judicial separation is not final and may even be rescinded-Effect of decree is that certain marital rights and obligations are suspended-In their place rights and duties prescribed in the decree are substituted.

F. Hindu Marriage Act, 1955-S. 10-Judicial separation-Decree of, held, does not sever or dissolve the bond of marriage, but rather provides an opportunity to the spouses for reconciliation and readjustment - It would, therefore, be wrong to infer that under S.10(2) the petitioners has a be vested right to a decree of divorce, even if he has made no attempt at reconciliation or has behaved in a manner to actively prevent it.

G. Hindu Marriage Act, 1955-Generally-Purpose of, held, is to maintain marital relationship, not to encourage the break-up of such relationships.

H. Hindu Marriage Act, 1955-Ss. 10 and 13(i)(1)-view that matrimonial offence of adultery would be deemed to be exhausted once a decree of judicial separation is passed, is not correct, The judges are requested to go through Chetan Dass Vs. Kamala Devi (2001) 4 SCC. 250 which is also being published separately. Copy of the letter No. D.O. No 26(2) 2000 coord. Received from Joint Secretary National Human Rights commission, Sardar Patel Bhawan, Sansad Maaarge, New Delhi 110001 is being published for general information. The Judges may purchase the said book. This institution has found the book useful for judges.

NOTE :- It is requested to go through the case law in ***Manmohan Vs. Kailash Kumari, AIR 1984 J & K 59 (63).*** That will make the law clear. There were divergent views on this subject. Now the Supreme Court has settled the matter finally.

●

विवाह बन्धन

विवाह की ग्रंथि दो के बीच की ग्रंथि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है। चाहने से ही वह टूटती है, विवाह भावुकता का प्रश्न है, वह प्रश्न क्या यों ही टाले टल सकता है? वह गांठ है जो बंधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाए, लेकिन टूटना कब, किसका श्रेयस्कर है?

जैनेन्द्र कुमार
'त्यागपत्र' से साभार

पति-पत्नी के बीच मेल मिलाप- न्यायालय की भूमिका

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

पति–पत्नी के बीच मेल मिलाप और वह भी तीसरे पक्ष (विशेषकर न्यायालय द्वारा) बड़ा पवित्र काम है। वैसे पति–पत्नी के बीच किसी भी बात में तृतीय पक्ष ने हस्तक्षेप कभी भी नहीं करना चाहिये। वो इसलिये कि एक कैंची के दो फल होते हैं। चाहे दिखने में वे दो फाड़ दिखते हों लेकिन कोई भी तीसरा व्यक्ति बीच में आएगा तो वह कागज जैसा कट जाएगा। लेकिन ध्यान रखना आप तो कैंची के दो पातों को जोड़ने वाला नट–बोल्ट हो जिस कारण कैची के रूप में दो पातें एक बनें रह सकते हैं।

धारा 23 (3) हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रावधान तो कहते हैं कि न्यायालय को बीच में तो पड़ना ही पड़ेगा। पड़ना भी चाहिये। हिन्दू विधि के अनुसार विवाह एक संविदा नहीं है अपितु स्त्री–पुरुष के बीच शारीरिक व मानसिक सम्बन्धों का मिलन भी है। अतः जहां मानसिक आधार से पति–पत्नी के बीच अलगाव की संभावना बढ़ जाती है व दोनों में से कोई एक पक्ष न्यायालय में विवाह विच्छेद की सहायता मांगने हेतु आ जाता है वहां पर न्यायालय का प्रकरण के प्रारंभिक समय से प्रकरण के अंतिम निराकरण तक यह कर्तव्य है कि वह पक्षकारों के बीच मेल मिलाप (रिकान्सिलेशन) का प्रयत्न सक्रीय रूप से सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए करें। ऐसा नहीं हो सकता कि विवाह विच्छेद के प्रकरण में अंतिम छोर पर जब तर्क सुनने का अवसर आएगा तो हम ऐसी औपचारिकता का निर्वाह करें। यह कल्पना कि पति पत्नी बड़े होशियार होते हैं भ्रामक है। (मैं अपने अनुभव से सही कह रहा हूँ) वे होशियार हो या नहीं (अधिकांश मामले में वे नहीं होते इसीलिए न्यायालय में आते हैं) हमारा कर्तव्य है कि उनके बीच में मेल मिलाप हो जावे एवं सामंजस्य स्थापित हो। अतः समय समय पर न्यायालय ने अंतिम क्षण तक यहां तक कि निर्णय के पूर्व क्षण तक 4–6 यूनिट्स की (प्रकरण के निराकरण की) चिंता न करते सामंजस्य स्थापित करना चाहिये। ऐसा हो जाता है तो मान लेना कि 4–6 यूनिट्स हमने उन दोनों को मेल मिलाप के उपलक्ष में "शुभ कामनाओं सहित सादर सप्रेम भेंट" के रूप में दे दिए।

पक्षकार जब आते हैं तो मेल मिलाप के लिए न्यायालय द्वारा प्रयत्न करना आसान हो जाता है। मेल मिलाप हेतु किसी कारण पक्षकार नहीं आते है तो उन्हें बुलाने हेतु अशेष प्रयत्न होना ही चाहिये। मेल मिलाप के लिए न्यायालय स्वयं ने प्रयत्न करना चाहिये तथा आवश्यक हो तो पक्षकारों के निवेदन पर सामंजस्य हेतु किसी अन्य व्यक्ति को भी ऐसा निर्देश दिया जा सकता है। एक प्रकरण, ***आर.व्ही.एस.एल. अन्नापूर्ण वि. आर. साईकुमार 1981 (सप्लिमेंट) एस.सी.सी. 71 (72)*** के प्रकरण में, सर्वोच्च न्यायालय ने प्रकरण के पति पत्नी को एक साथ किसी पृथक मकान में रहने हेतु कहा व उच्च न्यायालय के सेवानिवृत न्यायाधीश एवं पति पत्नी के नियोक्ता के मार्गदर्शन में प्रबोधन के लिए भी कहा। ***रमेशचंद्र वि. प्रेमलता 1979 एम.पी. एल.जे. पृष्ठ 248*** में भी यहीं बात बताई है।

अधिनियम की धारा 23(2) में यह शब्द है कि "न्यायालय.....ऐसा करना संभव हो पक्षकारों के बीच मेल मिलाप कराने का पूर्ण प्रयास करें" अपवादात्मक प्रावधान परंतुक में दिए हैं। इस प्रकार पूर्ण (every) प्रयत्न (endeavour) शब्द का स्वयं का अपना महत्व है। अर्थात न्यायालय को ऐसा कर्तव्य सौंपा गया है कि वह पूर्णतः प्रयत्न करें कि मेल मिलाप हो सके।

यह ऐंसा भी नहीं है कि तृतीय पक्ष को मेल मिलाप हेतु निदेशित (संदर्भित) किया हो व उसका यह अभिमत हो कि मेल मिलाप संभव नहीं है तो वह अभिमत मात्र है न्यायालय उस आधार से मात्र निर्णय नहीं देगा अपितु न्यायालय स्वयं की ऐसा संतोष करना है।

प्रकरण में एक पक्ष द्वारा प्रस्तुत विवाह विच्छेद के प्रकरण में कभी कभी दूसरा पक्ष एक पक्षीय हो जाता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि मेल मिलाप का प्रयत्न होना ही नहीं है। ऐसी स्थिति में भी दूसरे पक्ष को न्यायालय में उपस्थिति होने के लिए सक्ति की जा सकती है।

कभी कभी धोखा हो जाता है कि प्रतिवादी अनुपस्थित होता है व एक पक्षीय डिक्री हो जाती है। लेकिन

न्यायालय ने देखना चाहिये कि समन्स का निर्वाह सामान्य एवं पंजीकृत डाक द्वारा किया गया है या नहीं जो अनिवार्य है। एक पक्षीय हो जाने के पश्चात भी आपसी तालमेल मेल मिलाप हेतु अनुपस्थित पक्षकार की उपस्थिति पुनः सुनिश्चित कराई जा सकती है। ऐसा आभास तक नहीं होता कि एक पक्षीय प्रकरण में ऐसा नहीं हो सकता। लक्ष्य मेल मिलाप का होता है। ध्यान रहे धारा 23(4) के अंतर्गत विवाह विच्छेद की डिक्री की नकल भी पक्षकारों को निःशुल्क देना है अतः एक पक्षीय पक्षकार के पते पर भी डिक्री की नकल भेजी जाना चाहिये। ऐसा सामान्य व पंजीकृत डाक द्वारा न्यायालय के व्यय से किया जा सकता है जिससे एक पक्षीय पक्षकार को यह ज्ञात हो सके कि ऐसा प्रकरण उसके विरूद्ध एक पक्षीय हो गया था व डिक्री हुई थी।

आजकल यह बहुत सामान्य है कि छलकपट–झूठ–फरेब द्वारा समन्स का निर्वाह होना बता दिया जाता है इसलिए भी जरूरी है कि प्रकरण के लंबित होने के काल खंड में आपसी मेल–मिलाप को दूसरे पक्ष को बुलाया जा सके। ऐसा करना अनुचित व न्यायालय के अधिकारिता के बाह्य नहीं होगा कि वादी/प्रार्थी से शपथ पत्र बुलाया जावे व कहा जावे कि शपथ पत्र पर यह बताएं कि प्रतिप्रार्थी/वादी का जो पता दावे में लिखा है वह सही है। यह भी किया जा सकता है कि प्रतिप्रार्थी पत्नी है तो उसके मायके का पता पार्थी पति से लेकर मायके के पते पर समन्स भेजा जा सके। प्रतिप्रार्थी पति है तो उसके पिता का पता लेकर उसके पिता के निवास स्थान पर समन्स भेजा जा सके। उद्देश्य तो यही है ना कि प्रतिप्रार्थी को विवाह विच्छेद का सूचना पत्र प्राप्त हो। इसी प्रकार प्रतिप्रार्थी, जो एक पक्षीय है, को डिक्री की नकल भेजते समय भी यही प्रक्रिया अपनाना चाहिये ताकि सुनिश्चित हो सके कि विपक्ष को (दूसरे पक्ष को) डिक्री की नकल निश्चित रूप से मिल गयी थी। ऐसा करने से भविष्य में दूसरा विवाह कर लेना अथवा तत्सम बाधाओं की बाहुल्यता से बचा जा सकेगा।

धारा 23(2), 23(3) व 23 (4) हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रावधान त्वरित संदर्भ हेतु यहां दिए जा रहे हैं।

ध्यान रहे कि व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आदेश 32 ए. नि. 1 (4) सपठीत आदेश 32–ए (1) (3) के तहत हिन्दू विवाह अधिनियम के लिए लागू नहीं होते हैं।

अपेक्षा ये भी है कि दावे के साथ पति पत्नी का विवाह विषयक जोड़े से फोटो या अन्य समय का फोटो हो। ताकि भविष्य में गलत व्यक्ति को खड़ा कर प्रकरण निराकृत न हो सके। न्यायालयों ने ऐसे मामलों में राजीनामें के समय या साक्ष्य लिपिबद्ध करते समय उनके पहचान चिन्ह लिख लेना चाहिए एवं साक्षियों के हस्ताक्षर भी ले लेना चाहिये।

त्वरित संदर्भ हेतु धारा 23 (2) (3) एवं (4) के प्रावधान नीचे दिए हैं

धारा 23 (2) इस अधिनियम के अधीन कोई अनुतोष अनुदत्त करने के लिए अग्रसर होने के पूर्व यह न्यायालय का प्रथमतः कर्तव्य होगा कि वह ऐसी हर दशा में, जहां कि मामले की प्रकृति और परिस्थितियों से संगत रहते हुए ऐसा करना संभव हो पक्षकारों के बीच मेल–मिलाप कराने का पूर्ण प्रयास करें :

परन्तु इस उपधारा की कोई बात किसी ऐसी कार्यवाही को लागू नहीं होगी जिसमें धारा 13 की उपधारा (1) के खंड (ii), खंड (iii) खंड (iv) खंड (v) खंड (vi) या खंड (vii) में विनिर्दिष्ट आधारों में से किसी आधार पर अनुतोष चाहा गया है।

धारा 23 (3) ऐसा मेल मिलाप कराने में न्यायालय की सहायता के प्रयोजन के लिए न्यायालय, यदि पक्षकार ऐसा चाहे तो या यदि न्यायालय ऐसा करना न्यायसंगत और उचित समझे तो, कार्यवाहियों को 15 दिन के अनधिक की युक्तियुक्त कालावधि के लिए स्थगित कर सकेगा और उस मामले के पक्षकारों द्वारा इस निमित्त नामित किसी व्यक्ति को या यदि पक्षकार कोई नामित करने में असफल रहते हैं तो न्यायालय द्वारा नामनिर्देशित किसी व्यक्ति को इन निदेशों के साथ निर्देशित कर सकेगा कि वह न्यायालय को इस बारे में रिपोर्ट दे कि मेल–मिलाप कराया जा सकता है या नहीं तथा करा दिया गया है या नहीं और न्यायालय कार्यवाही का निपटारा करने में ऐसी रिपोर्ट को सम्यक रूप से ध्यान में रखेगा।

धारा 23 (4) ऐसे हर मामले में, जिसमें विवाह का विघटन विवाह–विच्छेद द्वारा होता है डिक्री पारित करने वाला न्यायालय हर पक्षकार को उसकी प्रति मुफ्त देगा।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955
विवाह - एक संस्कार की पवित्रता

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

प्राक्कथन

माननीय न्यायाधिपति श्रीमान दीपक मिश्रा महोदय ने दि. 21.5.2001 जिला अधिवक्ता संघ, जबलपुर में हिन्दू विवाह अधिनियम के अंतर्गत विवाह विच्छेद विषय पर भाष्य किया। भाष्य में अभिव्यक्त विचार, उसकी प्रस्तुती एवं साधु–संतोचित भाषा शैली से सभागृह में पधारे श्रोताओं को मंत्रमुग्ध (मोहित) कर दिया था। हर एक श्रोता वक्ता के साथ समरस हो गया था। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर यह लेख लिखा जा रहा है।

धारा 7 हिन्दू विवाह अधिनियम इस प्रकार है–

धारा 7. हिन्दू विवाह के लिए कर्मकांड -

(1) हिन्दू विवाह उसके पक्षकारों में से किसी भी रुढ़िगत रीतियों और कर्मकांड के अनुसार अनुष्ठापित किया जा सकेगा।

(2) जहां कि ऐसी रीतियों और कर्मकांड के अंतर्गत सप्त पदी (अर्थात अग्नि के समक्ष वर और वधू द्वारा संयुक्त सात पद चलाना) आती हो वहाँ विवाह पूर्ण और आबद्धकर तब होता है जब सातवां पद चल लिया जाता है।

सप्तपदी

उपरोक्त प्रावधान स्वयमेव स्पष्ट है। धारा बताती है कि सप्तपदी की न्यूनतम भी आवश्यकता नहीं है। जब पक्षकारों के बीच रुढ़िगत विवाह का प्रचलन हो तो उस रुढ़िगत व्यवहार से विवाह को सम्पन्न किया जा सकता है। हिन्दूओं के बीच जो जाति –उपजातियां हैं वे अपनी अपनी रुढ़िगत पद्धति से विवाह सम्पन्न कर सकते हैं व ऐसा विवाह वैध माना गया है। लेकिन धारा 7(2) में यह बात स्पष्ट रूप से आई है कि रूढ़ि के अंतर्गत यदि सप्तपदी आती हो तो सातवां पद वर–वधू द्वारा पूर्ण कर लेने पर ही विवाह पूर्ण हो कर वर–वधू पति–पत्नी की स्थिति या ऐसे सम्बन्धों की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। और तब हम वधू को पत्नी एवं वर को पति कह कर सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार वे वर–वधू, पति–पत्नी बनते हैं। जब सप्तपदी पूर्ण हो जाती है तो वधू जिस कुलगोत्र की है उसका गोत्र परिवर्तित होकर पति के गोत्र को औपचारिक रूप से धारण करती है। चूंकि गोत्र भौतिक वस्तु नहीं है अतः विवाह पश्चात अब स्त्री का गोत्र पति का गोत्र मान लिया जाता है। मनु स्मृति में अध्याय आठ श्लोक 227 में यही कहा गया है। यथा

स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी-
विवाहात्सप्तमे पदे।।

विधिक दृष्टि से, इस प्रकार सप्तपदी का अग्नि को साक्षी रखकर पूर्ण करना विवाह की पूर्णता होती है। यही बात धारा 7 अभिव्यक्त करती है।

अधिनियम की धारा 7 के अुनसार हिन्दू विवाह के लिए जो कर्मकांड है वह गृह्य सूत्र के अनुसार विवाह होम में प्रदीप्त अग्नि को आज्य (घी) आहुति पांच बार देने के पश्चात (1) पाणिग्रहण (2) लाजा होम (3) अग्नि प्रदक्षिणा (4) अश्मारोहण (5) सप्तपदी (6) ध्रुवादि दर्शन यह प्रामुख्य से विधि होते हैं।

अग्नि साक्षी

सप्तपदी अग्नि को साक्षी रखकर करना होती है । पंचमहाभूत भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये हमारे जीवन के अंग हैं। संत तुलसीदास जी कहते हैं छिती, जल पावक, गगन समीरा/ पंचरचित यह अधम

शरीरा। जो सात पद वर–वधू चलते हैं वे अग्नि को प्रदक्षिणा (फेरे) करके चलते हैं। कल्पना करे कि आप मंदिर में है। ईश्वर का मुंह पश्चिम की ओर होगा व आपका मुंह पूर्व की ओर। तब आप जो प्रदक्षिणा प्रारम्भ करते हैं वह बायें हाथ से चल कर याने उत्तर दिशा में मुड़ कर एक फेरा प्रारम्भ करेंगे। वैसे ही यह क्रिया होती है। विवाह होम का मुख्य उद्देश्य यह है कि इस वधू को प्रतिग्रह स्वरूप स्वीकारा जा रहा है उसे भार्यात्व प्राप्त हो और गृहयाग्नि सिद्ध हो इस लिए विवाह होम किया जाता है। विवाह होम के समय स्थंडिलादि कृत्य किया जाता है जो सप्दपदी की पूर्व तैयारी है। इसके अनुसार जहां अग्नि स्थापित की है उसके पार (मानों जहां भगवान की मूर्ति है उसके पार) सील–बट्टा हो, ईशान्य दिशा की ओर मुट्ठीभर चावल की धानी हो उस पर सजा हुआ कलश स्थापित किया जावे एक अग्निहोम (स्थडिल) के उत्तर की ओर कुछ दूरी पर पूर्व से पश्चिम तक घूमते हुए सात पुंज (मुट्ठी–मुट्ठी भर की ढेरी) चांवल के रखे जाते हैं। बोलचाल में हम चावल कह लें लेकिन होना अक्षत (अक्षय) चाहिये। जिसका क्षत न हुआ हो। ऐसा करके अग्निहोम प्रारम्भ होता है। वर–वधू वहां क्रमशः बाए दाएं बैठते हैं।

वर अग्नि की ओर मुंह पूर्व की ओर करके बैठेगा वधू पश्चिम से आकर उत्तर बाजू से आते हुए वर के दाएं हाथ की ओर बैठेगी।

अग्नि होम में जो प्रार्थना की जाती है उसका सार संक्षेप ये है कि हे अग्नि तुम हमारे आयुष्य का रक्षण करना स्वस्थ रखना भरपूर अन्नादि की उत्पत्ति हो, ऐसी प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार अग्नि की स्थापना करके अब वैवाहिक क्रियाकलाप (रस्में) पूर्ण करना होती हैं। अग्नि को वैश्वानर–अन्नवता कहा गया है।

सप्त पदी प्रारम्भ होते समय वर–वधू एक दूसरे के साथ आगे पीछे चलते हैं अग्नि प्रदक्षिणा करते हुए चलना होता है। चांवल की प्रत्येक ढेरी पर वधू ने अपना दाया पैर रखना है उसी प्रकार वर ने भी ऐसा ही करना है। ऐसा करते करते सातों ढेरियों पर पैर रखके सप्तपदी पूर्ण करना है।

हिन्दू विवाह - आशय एवं उद्देश्य

हिन्दू विवाह आस्था का एक संस्कार है। मनुष्य गर्भ में जब वास करता है तब से मृत्यु तक के जो सोलह संस्कार हैं उसमें से यह भी एक संस्कार है। प्रकृति ने जीव मात्र को वासना दी है लेकिन उसे मर्यादित करने हेतु हमें संस्कारित किया जाता है ताकि हम भोग से संयम की ओर अग्रसर हो। अतः यह संस्कार भोग विलास का संस्कार न होकर धार्मिक स्वरूप प्रदान किया है जिससे हम आत्मानुशासित हो। विवाह पश्चात भी भोगेच्छा को संयमित करने हेतु पर्व–व्रत–रजखला अवस्था के माध्यम से नियमित किया गया है तीन ऋण (ऋषि–पितृ–यज्ञ) में से पितृऋण से मुक्ति हेतु यह संस्कार है। भोग विवाह का उद्देश्य कभी भी नहीं माना गया है। विवाह पूर्व मनुष्य अपने व्यक्तित्व की चिंता करता है लेकिन विवाह पश्चात सही अर्थो में पत्नी, परिवारजन व प्रकारांतर से समाज से जुड़ कर रागद्वेश रहित हो जाता है। इसीलिए रथफील्ड का कहना है कि हिंदुओं की विवाह प्रथा सुखद है। इसमें स्वार्थ कम सार्वभौमवाद अधिक है। फ्रेडरिक पिनकट का कहना है यह बंधन टूटने के लिए नहीं होता हिन्दूओं में विवाह विच्छेद आकाश कुसुमवत–अपवाद–है। (इसीलिए धारा 23 के अंतर्गत न्यायालयों को मेल मिलाप हेतु न केवल विस्तारित अधिकार दिए हैं अपितु कर्त्तव्य भी आरोपित किया है। सर्वोच्च न्यायालय का एक निर्णय एवं उसपर एक लेख इसी पत्रिका में है।

सप्तपदी के सात श्लोक

हिन्दू विवाह संस्कार में वरपक्ष के पिता अपने पुत्र के लिए "दैवपित्र्या त्रप्रणापाकरण हेतु भूत धर्म प्रजोत्पादन सिद्धि द्वारा" अर्थात मानव पर देवता तथा पितृ त्रयूण के फिटाने के लिए संकल्प करते हैं। इसी प्रकार कन्यापक्ष के पिता कन्या के लिये यह संकल्प करते हैं कि मेरी कन्या पति के साथ धर्म प्रजोत्पादन गृह्य परिग्रह एवं धर्म के आचरण के लिए अधिकार प्राप्त हो इस उद्देश्य से विवाह संस्कार कर रहा हूँ।

सप्तपदी के सात श्लोक मूल रूप में संस्कृत में हैं उन्हें नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है तत्पश्चात उसका हिन्दी अर्थ दिया जा रहा है।

(1) इप एकपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।
(2) ऊर्जे द्विपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।
(3) रायस्पोषाय त्रिपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।
(4) मा यो भव्याय चतुष्पदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।
(5) प्रजाभ्यः पंचपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।
(6) ऋतुभ्यः षट्पदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।
(7) सखा सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान्विंदावहै बहूंस्ते संतु जरदष्टयः।।

पदानुक्रमानुसार अर्थ इस प्रकार है-

(1) हे वधू, तुमने मेरे साथ प्रथम पद रखा तब मेरा और तुम्हारा सख्य (साथ) हो गया इसलिए तुम अब अन्नप्रदाता होना, मेरे अनुकूल व्यवहार करना एवं हमें पुत्रादि प्राप्ति हो। (पितृ ऋण से मुक्ति हो सके)

(2) हे वधू तुमने मेरे साथ दूसरा पद रखा तुम मुझे बल–शक्ति की वृद्धि करने में सहायक हो व पुत्रादि की प्राप्ति हो।

(3) तुम मेरे साथ तीन पग चली तुम मुझे धन वृद्धि में सहायक हो।

(4) तुमने मेरे साथ चौथा पग रखा इसलिए सुख वृद्धि में सहायक हो।

(5) तुम मेरे साथ पांच कदम चली हो संतति (विद्वान–अनुशासित) को वृद्धि करने वाली हो।

(6) तुमने मेरे साथ छठा कदम रखा अतः सभी ऋतुओं में प्राप्त होने वाले सुख–भोग–आनंद प्राप्त होते रहे।

(7) तुम मेरे साथ सात पद (सप्तपद) चली इसलिए मेरे और तुम्हारे बीच मित्रवत भाव (पति का बॉसिंग नहीं रहेगा) दृढ़ हों।

इस प्रकार प्रथम पद अन्न हेतु, दूसरा पद बल हेतु तीसरा धनवृद्धि हेतु चौथा सुख वृद्धि हेतु पांचवा पग वंशवृद्धि हेतु छठा पग समस्त ऋतु सुखों के लिए एवं सातवां पग मित्रवत सम्बन्धों (की आशा) के लिए है। (आशा इसलिए की बिचारी पत्नी और क्या अपेक्षा करेगी)।

अंत में पत्नी कहती है कि 'जीवपत्नी प्रजा विदेय' अर्थात मेरा पति शतायु हो तथा वंशवृद्धि हेतु संतती उत्पन्न हो ऐसी इच्छा मैं करती हूँ। ध्यान रहे सप्तपदी पश्चात वर को पति एवं वधू को पत्नी के रूप में संज्ञा दी गई है।

एक संकलनकर्ता का कथन सप्तपदी का सारसंक्षेप में इस प्रकार है। मान्ये। यहां सौ वर्षों तक सुखपूर्वक रहो, यश को प्राप्त करो, धन–धान्य से परिपूर्ण रहो, मेरा और तुम्हारा कभी बिछोह न हो। यहां रहकर सार्वभौम जीवनयापन करो अर्थात शांति और समृद्धि को प्राप्त होओ। इस घर में अपने प्यारे बच्चों के साथ फूलो फलो और घर के काम काज की ओर तुम्हारा ध्यान रहे। (इस प्रकार पत्नी का ससुराल आना कारागृह में आना नहीं है।)

सप्तपदी में जो उद्‌गार उच्चारित होते हैं उससे स्पष्ट होता है कि अब आत्मा प्राण एक है शरीर दो है। दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति मंगलकामना हो। नारी पतिव्रता और पुरूष एक पत्नीव्रती हो। प्रत्येक बुद्धिमती, भाग्यवान स्त्री को ऐसे अजीवन संगी पर अवश्य ही गर्व होगा।

वास्तव में सप्तपदी का स्वरूप आकाश के सप्तऋषियोंके साथ कल्पनात्मक है। वर–वधू सप्तपदी पश्चात खुले में आकर आकाश की ओर देखकर घोषित करते हैं कि हे ध्रुव नक्षत्र जैसे आप स्थिर हैं वैसे ही हम परिवार में सदा के लिए स्थिर हों। हे सतीमाता अरूंधती आपकी ही भांति हम भी मन–वचन और शरीर से एक दूसरे से जुड़ जाएं। हमारा आपसी संयोग आकाश, पृथ्वी, समस्त ब्रहमाण्ड और इन सब पर्वतों की भांति अचल है।

सप्तपदी के पूर्व वर–वधू के हाथ एक साथ बांध दिए जाते हैं और उनके वस्त्रों को भी मिलाकर गांठ लगा

दी जाती है। इसको ग्रंथिबंधन कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वर–वधू दोनों शरीर से एक हो गए तथा एक दूसरे के लिए सदा के साथी भी बन गए हैं। यह प्रार्थित किया जाता है कि वर–वधू का सम्बन्ध इंद्र और इंद्राणी, विभावसु और स्वाहा, सोम तथा रोहिणी, नल तथा दमयंती, वैश्रवण और भद्रा, वसिष्ठ तथा अरूंधती एवं लक्ष्मी नारायण जैसे जोड़ी के रूप में विशिष्टता पाएं। संध्या समय सप्तऋषियों के दर्शन कराएं जाते हैं।

समापन

इसी पत्रिका में विवाह विच्छेद की डिक्री देने के पूर्व मेल मिलाप हेतु न्यायालय द्वारा प्रयत्न करने के विषय में लेख लिखा है वह केवल विधि के प्रावधान से सम्बन्धित है लेकिन ऐसे मेल मिलाप का क्या महत्व है उसकी पृष्ठभूमि समझने हेतु ये लेख ज्यादा प्रभावी रहेगा जिससे ज्ञात होगा कि एक स्त्री अपना सर्वस्व त्याग करके यहां तक विवाह पूर्व का नाम तक त्याग कर मायके से पति के घर आती है व पूर्ण समर्पण के साथ पत्नी के रूप में जीवन बिताना चाहती है व इसलिए सप्तपदी के माध्यम से पत्नी से पति ने अपेक्षाएं की हैं उन्हें अग्नि देवता को साक्षी रखकर वह निभाना भी चाहती है तब इन सब बातों का चिंतन हमें भी करना है कि विवाह विच्छेद की डिक्री पारित करने के पूर्व भरसक प्रयत्न हो कि विवाह विच्छेद न हो पावे। सप्तपदी का अर्थ भावना व उद्देश्य यदि समझ में आ जावे तो हम यह निश्चित रूप से कह पाएँगे कि यह दिखावा नहीं है आडंबर नहीं है न पाखंड है न ही अंध विश्वास। ये बाते तो वे हैं जो एक दूसरे से अपेक्षित हैं जिन्हें शास्त्रोवत रूप से प्रस्तुत किया जाता है। कोई भी धर्म पंथ, जाति हो या रिवाज रूढ़ी या परंपरा रही हो प्रक्रिया भिन्न हो सकती है लक्ष एक ही है कि पति–पत्नी का सम्बन्ध केवल भोग विलास का या संतती उत्पन्न करने का ही नहीं है अपितु समाज धर्म निभाना है व समाज को व्यवस्थित अनुशासित तथा उत्तरोत्तर सुसंस्कृत करने का भी है। स्त्री व पुरुष विवाह संस्कार के माध्यम से सखा सखी का दर्जा प्राप्त करते हैं। आशा है लेख में उल्लेखित बातें मेल मिलाप करने की प्रक्रिया में भावनात्मक रूप से भी प्रभावी सिद्ध हो तथा मेल मिलाप हेतु जब सम्बन्धित पति–पत्नी आपके चेंबर में आएं तो उन्हें सप्तपदी का आशय बताया जा सके। भावनात्मक दृष्टि से समझाया जा सके।

संदर्भित ग्रन्थ -

(1) विवाह संस्कार – सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव (2) गृहस्थ गीता – संकलक प्रेमलता (3) हिन्दू लॉ द्वारा मुल्ला एवं गौड़ (4) Legal and Constitutional History of India by Ramajoh (5) The laws of Manu by G. Bhuler and F. Maxmuller. (6) श्री पद्माकर गणेश दामले, पूर्व लेखा अधिकारी म.प्र. उच्च न्यायालय, जबलपुर के साथ मंत्रणा।

कार्येषु मंत्री करणेषु दासी, भोज्येषु माता शयनेषु रंभा।
धर्मानुकूल क्षमया धरित्री, जड्गुण्यमेतद्वि प्रतिव्रतानाम।।

कार्य में सलाहकार, गृहस्थकाम में दासी अनुरूप, भोजन के समय माता अनुरूप, शयन में पत्नी तथा धर्म कर्म में सदा अनुकूल एवं पृथ्वी अनुरूप क्षमाशील है यह स्त्री। ये पतिव्रता स्त्री के छह गुण हैं।

विवाह के मंत्र

विवाह के मंत्र कर्त्तव्य दे सकते हैं, भक्ति दे सकते हैं, सहरमण की प्रवृत्ति भी दे सकते हैं, किन्तु माधुर्य देने की शक्ति उनमें नहीं है, यह शक्ति केवल प्रकृति के नियम के पालन में है।

शतरचंद्र चट्टोपाध्याय
"चरित्रहीन" से साभार

ENHANCEMENT OF MAINTENANCE FROM RS. 3000/- TO RS. 500 ONLY!

-P. V. NAMJOSHI

INTRODACTION

The heading in itself may appear to be pharsical, illogical, irrational or unreasonable or even absurd. But anamoly in the law has compelled me to describe it in this fashion. A Judicial Officer telephoned and noticed me that there appears to be some anamoly in the provisions of Section 125 of the Cr.P.C. as amended by M.P. Act and proviso to Section 127 of the Cr.P.C. His argument appears to be logical and pursuade me to write few lines on the subject.

The State of M.P. by its Amending Act No. 10 of 1998 published in M.P. Gazetter (Asadharan), dated 30-5-1998 at page 526 in sub section (1) of Section 125 of the Principal Act (Cr.P.C.) substituted the words Rs. 3000 for Rs. 500/-.

The Amendment runs as under :-

In Sub Section (1) of Section 125 of the principal Act, for the words "five hundred rupees" the words "three thousand rupees" shall be substituted.

Please see **1998 JOTI August part at page 72** for ready reference.

After amendment of the proviso, the sub clause to Section 125 (1) will be read as under:-

".....at such monthly rate not exceeding Rs. 3000/- in the whole....."

Proviso to Section 127 runs as under :-

"Provided that if he (Magistrate) increases the allowance, the monthly rate of Rs. 500" in the whole, shall not be exceeded.

Thus, by not amending the proviso to section 127 of the Cr.P.C. the incongruity has arisen and has created difficulty in the minds of the Judicial Officers to interprete the provisions of section 127 with reference to M.P. Amendment in Section 125 Cr.P.C. In this connection we have to refer to the statement of objects and reasons for partial amendment of Section 125 of the Cr.P.C. The statement of objects and reasons is as under :-

"According to the provisions of Section 125 of the Code of Criminal Procedure 1973, the maintenance allowance of Wives, Children or Parents is payable at such monthly rate not exceeding 500/- Rupees, since the existing amount of maintenance allowance has become insufficient in the present day circumstances, it has been considered necessary to enhance the same upto 3000/- Rupees.

2. In view of the above it has been decided to amend section 125 of the code of Criminal Procedure, 1973 in its application to the State of Madhya Pradesh, suitably."

While interpreting the proviso to Section 127 we have to keep in mind the objects and reasons for amending the amount from 500/- to Rs. 3000/- in section 125. The statement of objects and reasons is; since the existing amount of allowance has become insufficient in the present day circumstances it has been considered necessary to enhance the same. Thus the purpose is that the existing amount of Rs. 500/- was felt insufficient for

maintenance of a person dependent on husband or parents as the case may be. While interpreting the provisions of section 125 relating to the amount of Rs. 3000/- and Rs. 500/- in reference to section 127 we have to consider the spirit behind it.

Expressing my courtesy to Hon'ble the Chief Justice G. P. Singh, writer of the Principles of Statutory Interpretation, and publishers Wadhwa & Company, Shri Jagadish Swaroop, writer of Interpretation of Indian Statutes, the University Book Agency, Allahabad, Maxwell on Interpretation of Statutes, publishers N.K. Tripathy Pvt. Ltd., Bombay, Craise on Statute Law and Universal Law Publishers. I will quote some paragraphs from these books while expressing my own ideas. My role in writing this Article would be academic only. Therefore, it will be my personal view only. One may accept or one may differ from it and the Judicial Officers have to decide the cases at hand according to the circumstances of the case and according to their own Judicial ideas or understanding.

MISTAKES IN STATUTES :

. It is generally said that Legislature does not make mistakes. It is not competent for any court to proceed upon the assumption that the Legislature has made a mistake. Whatever the real fact may be a Court of law is bound to proceed upon the assumption that the Legislature is an ideal person that does not make mistakes. It is said that one cannot assume that there is a mistake in the Act of the Parliament. Therefore, to insert any provision by Court, meaning of interpreting it, would be simply making and not interpreting the law. It is further said that it is no part of the court to supply the deficiency. What the case law says is no case can be found to authorise the construction by a Court of an 'Act' altering a word so as to produce a casus omissus. Obviously the reason back of the rule of casus ommissus is found in the principle that, if the Court attempt to supply that which the Legislature has ommitted there is considerable danger that it may invade legislative field. It is an application of the principle of casus omissus that a matter which has been but has not been provided for in a statute cannot be supplied by Courts, as to do so will be legislation and not construction but there is no presumption that a casus omissus exist and in permitting the Court should avoid permitting a casus omissus where there is none. It is said that the criticism is more because of the unconventional manner in which the rule of convention was stated by Lord Denning, L.J., it is pertinent to remember that although a Court cannot supply a rule casus omissus, it is equally clear that it should not interprete a statute as to create a casus omissus, when there is really none. As on one hand it is not permissible to add words or to fill in the gap or lacuna on the other hand effort should be made to give meaning to each and every word used by the Legislature. In ***Renuka Bose Vs. Rai Manman Nath Bose, AIR 1955 PC 108,*** it was said that it is wrong and dangerous to proceed by substituting some other words for the words of statutes.

DEPARTURE FROM THE RULE :-

As per the above discussion it is clear that it is not allowable to read words in a statute which are not there but it is said that where the alternative lines between either supplying by implication of words which appeared to be accidently omitted or adopting a construction which deprives certain existing words with all meaning., it is permissible to supply the words.

The words may also be read to give effect to intention of the legislature. It is apparent from the Act which is as a whole (***Hamidia Vs. B. Mohanlal, AIR 1988 SC 1060 (1067).*** Thus the words can be read by implication when there is no doubt about the purpose which the parliament, (here the State Legislature) intended to achieve. This may be called

purposive construction. The words of a statute are naturally, ordinary or popular sense and phrases and sentences are construed according to their grammatical meaning unless that leads to some absurdity or there is something in the context or in the object of the statute to suggest the contrary. What it is said that the words are to be understood first in their natural, ordinary or popular or primary sense. What is meant is the words must be described with natural, ordinary or popular meaning which they have in relation to the subject matter. Whenever one has to construct a statute or document, one must not construe it accoding to the mere ordinary general meaning of the words but according to the ordinary meaning of the words as applied to the subject matter with regard to which they are used. ***Captain Subhash Kumar Vs. Principal Officer, AIR 1999 SC 1632 (1638).***

The words of a statute, when there is doubt about their meaning, are to be understood in the sense in which they best harmonise with the subject of the enactment and the object which the Legislature has in view.

The Supreme Court in ***Sodra Devis's case AIR/1975 SC 832 (835)*** expressed the view that the rule in **Heydon's case (1584) 3 Cr. REP. 7A (7B) = 76 ER 637** is applicable only when the words in question are ambiguous or reasonably culpable are more than one, but reality is one has regard to the consequences, hardships, inconveniences, injustice, absurdity and anamoly and that has to be avoided in selecting out of the different interpretations. The Court will adopt that it is just, reasonable and suitable rather than what it is none of those things. (***Nasiruddin Vs. State Transport Appellate Tribunal, AIR 1976 SC 331 (338).***

Now-a-days when laws are made by the representatives of the people, it is proper to assume that the law makers enact laws which society considers as honest, fair and reasonable and thus justice and reason constitute the great general representative intent in every peice of legislation.

The inconvenience necessitating a departure from the ordinary sense of the words, should not only be great but should also be what it is called "an absurd inconvenience". Therefore, it is always better to have harmonious construction but there is a great problem before us. The proviso to Section 127 comes after Section 125, i.e. in seriatum section 125 occurs first and then the proviso to section 127. The principle regarding interpretation is, when there are in an enactment two provisions which cannot be reconciled with each other they should be so interpreted that, if possible, effect should be given to the both. This is called harmonious construction. To harmonise is not to destroy. If two sections of an Act cannot be reconciled as they may be absolute contradictions, as in the present case, it is often said that the last must prevail. ***(K.M. Nanavati Vs. State of Bombay AIR 1961 SC 112 (137).*** But this should be accepted only as a last resort. It is no doubt true that if two sections of an Act are in truth, Irreconcilable, then prima facie the later will be preferred but these are the arguments of the last resort. The first duty of the court must be, if the result is fairly possible to give effect to the whole expression of the legislative intention, one has to try and reconceal the provisions as best as one can. If one cannot, one has to determine which is the leading provision and that which is the subordinate provision and which must give way to the other. ***(AIR 1961 SC 838 (834). Chief Inspector of Mines Vs. Karam Chand Thapar Laxmi Devi Vs. Mukund Kumar, AIR 1965 SC 834 (838)*** in which case it was held that section 2(d) of the T.P. Act was held to prevail over section 5 of the said Act. In **K.M. Nanavati's** case the Supreme Court further held that it cannot be assumed that the constitution has given with one hand what it has taken away with another **(1940) 2 KB. 204.**

In the present case the question is not the wisdom of the legislature who makes laws. Once the legislature has made the law, it is for the Courts to apply the law in such manner that the harmony may be maintained between the words used by the legislature and the purpose for whom the law is being legislated. Perhaps the Courts are the best authorities and interpretars to consider this aspect. By doing so, a Court does not supply the deficiency but tries to maintain and observe the spirit and intention of the legislation which caused it to make the law.

If under Section 125 of the Cr. P.C., one is entitled to receive maintenance amount to the tune of Rs. 3000/- then on going through the proviso to Section 127 it appears that the intention of the legislature was to amend the words Rs. 500 to Rs. 3000. But inadvertantly that provision could not be amended. Section 127 of the Cr.P.C., relates to alteration in allowances. It is said that even where it was inadvertant Act, an atttempt to supply the omission by including the omitted case generally would operate to add to the statute a meaning not intended by the legislature for how can it be said that the law makers intended to include something omitted. The answer to this question can be found in the statement of objects and reasons. The statement of objects and reasons clearly indicate that the existing amount of maintenance allowance is insufficient in the present day circumstances and it has been considered necessary to enhance the sum up to Rs. 3000/-.

EXAMPLES

Thus the reality is this, it is an inadvertant ommission to amend the provision of Section 127. Another principle of interpretation is an interpretation though tends to strange results and anamolies should be avoided if it can be read without changing the language as used in the context. If a literal interpretation would lead to practical absurdity a reasonable construction should be adopted. This will not nullify the purpose also. The fact that a judge thinks that a particular enactment is irrational or unfair, is irrelevant provided the enactment is in such clear terms has to admit of no doubt as to its meaning. But a Judge construing an Act is not a mere automation, whose only duty is to give out what he considers to be the primary meaning of the language used. A Judge must always consider the effect of a construction which he is asked to put open an Act and if he comes to the conclusion that a particular construction leads to a result which he considers irrational or unfair, he is entitled and in deed bound to assume that the legislature does not intend such a construction to be adopted and try to find something rational meaning to which the words are sensible. That is logical and sensible result. The office of the judges is always to make such constructions as usually supress the mistakes and advance the objects. If we interprete the above two provisions as they stand it will mean that if a Magistrate has granted a monthly allowance of Rs. 300/- he can on an application under Section 127 can enhance it up to Rs. 500/-. But if he has granted an allowance of Rs. 501/-, then the applicant has no right to move an application for enhancement of that allowance as the proviso to section 127 does not permit enhancement beyond a sum of Rs. 500 and that was not the purpose of amending Act. It was also not the purpose to bar a person to move an application for enhancement under proviso to section 127 if the maintenence allowance granted is Rs. 500 or upwards.

TO CONCLUDE

It is the time when frame of mind or mental attitude to interprete a provision in hypertechnical manner should lean towards realities of life and for pro bono publico, i.e.

for the public good. The Judges should always keep in mind that the office of judges is not to legislate but to declare the expressed intention of the legislature even if that intention appears to the Court injudicious. If the Court comes to the conclusion from the study of the whole statute that legislature had a particular intention in putting that legislation on the statute book, then Court would shrink from interfering that the intention has not been carried out. The Court must try and not deter the legislature from carrying those objects so long as it is possible to do so. In the present case the answer to the problem would be the figure Rs. 500/- appearing in proviso to Section 127 should be read as Rs. 3000/- and the intention of the legislature will be fulfilled by interpreting in the same fashion.

In ***Union of India V. Elphinstone Spinnin and weaving Co. Ltd. (2001) 3 SCC. 139*** in para 17 The Supreme Court held that the duty of judges is to expound and not to legislate is a fundamental rule. There is no doubt a marginal area in which the courts mould or creatively interpret legislation and they are thus finishes, refiners and polishers of legislation which comes to them in a state requiring varying degrees of further processing. But by no stretch of imagination is a Judge entitled to add something more than what is there in the statute by way of a supposed intention of the legislature.

Suffice to state the following paragraph from **2001(1) JLJ page 327 (at 339-340)** which runs as under :

44 The Apex Court in its decision in the case of ***Àdministrator, Municipal Corporation or Dattatraya*** reported in **JT 1991 (4) SC 500** in paragraph 4 had emphasesed that the mechanical approach to construction is altogether out of step with the modern positive approach. The modern positive approach is to have a purposeful construction that is to effectuate the object and purpose of the Act. Further. in determining either the general object of the statutory provision or meaning of its language in any particular passage, it is obvious that the intention which appears to be most in accord with convenience, reason, justice and legal principles should, in all cases of doubtfull significance, be presumed to be the true one.

TAMIL NADU EPISODE

In relation to maintenance under Section 125 Cr.P.C. the Tamil Nadu Government proposed an amendment.

The extract of proposed amendent is given as under :

The Tamil Nadu Assembly in its statement of objects and reasons to the amendment has said : "The Government have considered that the upper limit of Rs. 500 is not sufficient to enable the women to live in freedom and dignity and that instead of fixing an upper limit, the monthly allowance may be fixed by the court at such monthly rate as the magistrate may think fit, having regard to the economic status of such persons." Thus it has unanimously passed the amendment removing the ceiling or Rs. 500.

"Further, to ensure prompt payment of monthly allowance for maintenance the government have considered that if the person against whom an order of maintenance is made is a salaried person, the magistrate ordering maintenance may be empowered to direct the salary disbursing authority to deduct the amount for maintenance from the salary and send the same to the court for payment to the person in whose favour the order of maintenance is made."

●

निराकरण - मोटी फाईल का

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

मोटा या मोटी शब्द का अंग्रेजी अनुवाद Compulent Fat (स्थूल काय) भी है। एक अन्य शब्द गोलमटोल (Plump) भी है। मोटा आदमी या मोटी महिला देखकर कुछ भी अटपटा नहीं लगता। कभी कभी तो अच्छा भी लगता है कि खाते–पीते घर का आदमी है। मोटापा यह एक बीमारी हो सकती है। कम खाने वाला भी मोटा हो सकता है ज्यादा खाने वाला दुबला (Slim) भी हो सकता है। ये तो शरीर में जो फॅट सेल्स होते हैं उस पर निर्भर करता है। इसका सम्बन्ध शारीरिक गठन से होता है। हम जब मोटी–सी बात कहते हैं तो वास्तव में वह तुच्छ सी बात हो जाती है। उसका सम्बन्ध भारी भरकम बात से नहीं होता। जैसे मोटी अकल का आदमी है या मोटी सी बात (Ordinary thing) याने सामान्य तुच्छ बात से सम्बन्ध हो जाता है। उसी प्रकार मोटे हिसाब से का अर्थ होता है अंदाज से अर्थात Approximately याने निश्चित रूप से नहीं। आदमी मोटा हो तो वह स्वयं परेशान होता रहता है और दूसरों को भी परेशान करता है। मोटी बुद्धि का हो तो क्या बात है उससे तो निपटना भी कठिन है। यदि यही स्थिति मोटा–मोटी एवं मोटे की है तो मोटी फाईल की क्या गति होगी।

मोटी फाईल के साथ पाला पड़ जाए तो मेरी दृष्टि में कोई कठिनाई नहीं होना चाहिये। मोटी फाईल संभवतः अपवादात्म स्थिति छोड़कर कभी भी मोटी नहीं होती है। होती वह भी पतली ही लेकिन उसका आकार भर मोटा दिखता है। मोटी फाईल वो होती है जिसमें किसी गंभीर विषय पर निर्णय देना हो। फिर उस फाईल के पन्ने इने गिने ही क्यों न हों। फिर भी हम सीमित रहते हैं फाईल के आकार पर। फाईल मोटी होती है यदि पक्षकार बहुत बड़ी संख्या में हो। समन्स निर्वाहित अनिर्वाहित, लौटकर आई रजिस्ट्रियाँ, लौट कर आए समन्स व उनके साथ दावे व विलेखों की ढेर सारी नकलें फाईल में ही रहती हैं। रजिस्टर आदि भी फाईल के साथ बांध दिये जाते हैं जो विलेख के रूप में प्रस्तुत होते हैं। हर पीठासीन अधिकारी (जी हां केवल आपका अपवाद छोड़कर) फाईल के आकार को देखकर ही उसे देखना तक पसंद नहीं करता जैसा कि कोई अविवाहित युवक किसी कन्या का फोटो देखकर ही उससे शादी करने से मना कर देता है उसके गुण नहीं देखना चाहता।

वास्तव में मोटी फाईल का वास्तविक आकार देखा जावे तो संभवतः एकहरी सुडौल सी होती है। वह यूनिटस् दे सकती है। परंतु हमारा दृष्टिकोण समीक्षक का, अनुभवी न्यायाधीश का होना चाहिये। आप उस फाईल के साथ कुछ देर अलग से बैठकर सोचो समझो विचार करो तब ही तो पता लगेगा वह कैसी है। मेरी इच्छा आपका ध्यान म. प्र. सिविल कोर्ट नियम एवं आदेश की ओर ध्यान आकृष्ट करने का है। कृपया पाठ 15 पढ़ें। व्यवहार फाईल को किस प्रकार से अरेंज (व्यवस्थित रखना) करना इस सम्बन्ध में बताया है। नियम 297 से 310 तक तो अवश्य पढ़ ही लेना। जानकारी बढ़ेगी। फाईल को ए, ए–1, सी–1, सी–2 व डी फाईल में अरेंज किया जाता है। ये काम तो तब किया जाता है जब फाईल रेकार्ड रूप भेजी जाती है या कि उच्च न्यायालयों में। अन्यथा तो कहीं कोई चीज है तो कहीं कुछ भी। एक दम बेतरतीब अव्यवस्थित रूप से। लेकिन हम इस मुद्दे को यहां स्पर्श नहीं कर रहे हैं। मुख्य मुद्दा फाईल निपटाने का है।

आप ऐसा कर सकते हैं। मोटी फाइल को कई फाइलों में विभाजित कर लें। एक फाईल तो केवल आदेशिका की मात्र बना लें। जिस पर आदेशिका लिखें। वर्णानुक्रम के लिए ए अंकित करें। दावे की एक अलग फाईल उसके साथ वादप्रश्न हो एवं अपने ही न्यायालय द्वारा पारित अंतरवर्ती आदेश वरिष्ठ न्यायालय के

अंतरवर्ती आदेश हो। वर्णानुक्रम हेतु उस पर बी डालें। उत्तर वाद हो तो उसकी एक फाईल सी अंकित हो। एक से अधिक उत्तर वाद हो तो प्रत्येक उत्तर वाद के साथ एक कोरा कागज ऊपरी और जिस पर लिखा हो किस प्रतिवादी क्रमांक का उत्तर वाद उसके नीचे उस प्रतिवादी का उत्तरवाद। इस प्रकार प्रत्येक उत्तरवाद की पृथक पहचान भी हो सकेगी। इस प्रकार सभी उत्तरवादों को सी फाईल में बांध दें। लिपिबद्ध साक्ष्य में वादी साक्ष की डी फाईल तो प्रतिवादी साक्षियों की ई फाईल अलग अलग प्रतिवादी की साक्ष हेतु एक एक कोरा कागज डाल कर उस पर प्रतिवादी क्रमांक का उल्लेख कर लें। यह फाईल एफ फाईल होगी। वादी व प्रतिवादीगणों के विलेखों की जी एवं एच फाईल बना लें। आवेदन पत्रों की आई फाईल बना लें व शेष की जी फाईल हो। इन पर भलीभांति लिख दें। जैसे दावा, उत्तरवाद, विलेख, साक्ष, आवेदन पत्र आदि।

अब आप उन्हें ठीक से लगा लें। साक्ष्य के दिन केवल मतलब की फाईलें सामने रखें शेष भाग बाजू में। मनोवैज्ञानिक प्रभाव बहुत भारी पड़ेगा। एक तो फाईल व्यवस्थित रहेगी व देखते ही हर बात समझ में आ जाएगी। कोई भी परेशानी नहीं होगी। मैं ये जो बता रहा हूँ वह नियम एवं आदेश के विरूद्ध नहीं है। हर कोई अवलोकन करे (केवल आप ही अपवाद हैं) तो अपवाद छोड़ हर किसी के बोर्ड पर हर फाईल नियम एवं आदेश के विपरीत ही मिलेगी। अस्थायी रूप से सुविधा के लिए हम ऐसा कर रहे हैं । किसी एक समय पश्चात तो हर फाईल विधिवत जमाकर रखना ही है। ऐसी मोटी फाईल वरिष्ठ न्यायालय को ठीक ठीक करके भेजने में भी सुविधा ही होगी। रहा प्रश्न फाईल कव्हर का। सन् 1992 के आस पास एक अर्धदशक का समय ऐसा था जब फाईल कव्हर उपलब्ध ही नहीं होते थे। अब होने लग गए हैं। लेकिन ऐसी कोई समस्या नहीं होती है। मैंने जो किया वह अव्यवहारिक नहीं है। स्थानीय परिचित डॉक्टरों के यहां मेडिकल कंपनियों का काफी संख्या में लिटरेचर आता है। मजबूत व चिकने कागज होते हैं। वे फाईल कव्हर से भी ज्यादा अच्छे एवं टिकाऊ रहते हैं। उन्हें आवश्यकतानुसार आकार में काटकर फाईल कव्हर के रूप में चिपका दें व उस पर प्रकरण का नम्बर नाम आदि लिख दें। ऐसा तब किया जब काफी वर्षों तक फाईल कव्हर उपलब्ध नहीं होते थे।

एक बात और। वाद प्रश्न हमेशा सफेद रंग से भिन्न कागज पर बनाया करें। उससे एक फायदा ये है कि वाद प्रश्न फाईल में कहा लगे हैं यह अविलंब ज्ञात होगा। होता यह है कि साक्ष्य प्रारम्भ करते समय वाद प्रश्न हमारे सामने होना चाहिये लेकिन काफी समय तक ढूंढने पर भी वे नहीं दिखते। कभी कभी भूलवश वाद प्रश्न बन ही नहीं पाते एवं प्रकरण साक्ष्य हेतु भी लग जाता है। अतः सफेद से भिन्न रंग का कागज तुरन्त ध्यान में आता है।

•

सोच अपना अपना

समाचार पत्र की न्यूज आइटम पढ़कर एक न्यायाधीश ने दूसरे से कहा कि वर्षा का जुलाई माह का कोटा तो माह के बीसवें दिन ही पूरा हो गया है संभव है इस माह अब वर्षा न हो।

वर्षा ऋतु ने यह बात चुपके से सुन ली और उन्हें कहा मैं कोई ज्यूडीशियल अफसर थोड़े ही हूँ।

भय क्यों ?

एक न्यायिक दंडाधिकारी ने पत्र लिखकर समस्या पूछी। तत्काल ही पत्र लिखकर उत्तर भेज दिया व आद्यतन न्याय दृष्टांत की प्रतिलिपि भी भेज दी। आगे क्या हुआ पता नहीं। उसकी समस्या विधि की कम थी भय की ज्यादा थी।

समय समय पर नये शब्दों का गठन होता रहता है। यह अच्छा लक्षण है कि नये विचार नये शब्द प्रगति सूचक माने जाते है। न्यायिक विवेक, न्यायिक औचित, न्यायिक अभिरक्षा वैसे ही न्यायिक भय नाम की उत्पत्ति हो गई। यह भय क्यों और किस प्रकार से हर एक के नस नस में रच बस गया पता नहीं लगा। पूर्व में लिखा था कि भय एवं न्यायाधीश के बीच कभी भी कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। कुछ एक ने कहा था कि हम तो बच बच के (नौकरी बचाकर) चलते हैं। कुछ एक ने कहा था कि हमारी नौकरी (जी हां ऐसे लोगों ने न्यायाधीश के ईश्वरीय कार्य को नौकरी बना दिया) जाने से बेहतर है अभियुक्त का जेल जाना। ऐसा कहकर जमानत आवेदन पत्र स्वीकार नहीं होते हैं। यह स्थिति सुखद नहीं है। यह इसलिए भी कि नव नियुक्त न्यायाधीशों को हम किस प्रकार मार्गदर्शित कर पाएँगे। क्या उनके मन में इन विषाणुओं को भर देंगे।

जो पत्र आया था उससे ज्ञात होगा कि एक जोड़ी भैंस चोरी गई थी। रिमांड स्टेज पर प्रतिभूति आवेदन पत्र निरस्त हुआ था। अनुसंधान चल रहा था। सत्र न्यायालय ने आवेदन पत्र निरस्त कर दिया क्यों कि भय था कि अभियुक्त प्रतिभूति पर छूट जाएगा तो गवाहों को जीत लेगा। लेकिन तब तक भैंसों की जप्ति हो चुकी थी। 2.1/2 माह से अधिक समय तक आरोपी जेल मैं निरुद्ध रहा है। छै साक्षियों के कथन भी हो चुके थे। इस मजिस्ट्रेट ने प्रकरण का बार बार अवलोकन कर तथा **जून 2000 की ज्योति** का अवलोकन कर हिम्मत जुटाई व अभियुक्त को प्रतिभूति पर छोड़ दिया। उन्हें समस्या थी कि प्रारम्भ में धारा 439 दं.प्र.स. के अंतर्गत सत्र न्यायालय ने आवेदन पत्र स्वीकृत करने के पश्चात अब विचारण न्यायालय आरोपी को प्रतिभूति पर छोड़ सकता है या नहीं। छोड़ा है तो क्या गलत तो नहीं हो गया। जी नहीं। ऐसी समस्या कुछ वर्षों पूर्व तक किसी को नहीं थी न आज भी होना चाहिये। अनावश्यक रूप से भय नहीं पालना चाहिये। मन में भय नौकरी बचाने का है, कहीं किसी के साथ अन्याय न हो यह विचार तक नहीं है। आप का कार्य निष्पक्ष, निस्वार्थ, निर्मोही रूप से (अर्थात न्यायाधीश के रुप में) सद्भावना पूर्वक किया है तो कोई आंच नहीं आना है।

घर के बुजुर्ग लोग खाने की चीजें बनाते हैं हम आप भी बनाते हैं। सामग्री भी वही होती है। स्वाद में अंतर होता है। कारण स्पष्ट है अनुभव, धीरज व आत्म विश्वास का अंतर। दोस्तों धीरज रखें, आत्म विश्वास रखे व निस्वार्थ रूप से कार्य करें। अनुभव समय के साथ आएगा (जी हां आना चाहिये)। अनुभव तब आएगा जब समस्या के आधार पर हम सम्बन्धित विषय का लगे हाथ अध्ययन भी कर लेंगे अन्यथा अनुभव नहीं आएगा क्यों कि हम अंदाज से कार्य कर रहे होंगे। हवाई किले कभी भी साकार रूप धारण नहीं करते। ऊंट पर बैठ कर बकरियां नहीं हांकी जाती, जिन्दा मेढक एक साथ नहीं तुल सकते, बीज मीटे बगैर पौधे का रूप धारण नहीं कर सकेगा। कल्पनाओं के आधार से फैसले नहीं होते, बिना ज्ञान के न्याय नहीं होगा।

सम्बन्धित न्यायिक अधिकारी ने पत्र के माध्यम से लिखा है प्रतिभूति, सुपुर्दगीनामा, निर्णय आदि पर

मूल्यवान विचारों की अपेक्षा है। दोस्तों, समय समय पर इन विषयों पर कई बार लिखा जा चुका है। उचित समय पर और भी लिखा जाएगा। समस्या यह नहीं है कि समस्या की पूर्ति किस प्रकार से की जावे। समस्या यह है कि हम बातें बहुत करते हैं परंतु बांचते (Reading) लगभग नहीं के बराबर। पढ़ने (Learning) की बात तो दूर की रही। एक बोध वाक्य है Learn to read and Read to learn.

ईमानदारी से सद्भावनापूर्वक कार्य किया हो तथा व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ नहीं हो तो कभी कोई नुकसान नहीं होगा। मेघों के कारण सूर्य आच्छादित अवश्य होता है उसका लोप नहीं होता। प्रकरणों के प्रति समान व्यवहार व हर एक के प्रति भी समान व्यवहार ये तो न्यायाधीश की न्यूनतम गुण है।

प्रतिभूति के सम्बन्ध में मुझे लिखे पत्र में ज्योति जून 2000 के सम्पादकीय का उल्लेख था। मैंने उसे पढ़ा। स्मृति पुनः ताजी हो गई। सही बात है कि Fear always springs from Ignorance. A man who is afraid will do any thing. As fear is close companion to falsehood. So truth follows fearlessness. Fearless minds climbs soonest up to crowns. मैंने वह संपादकीय देखा। समय मिले तो उसे आप पुनः पढ़ना। **माननीय न्यायाधिपति श्रीमान आर. एस. गर्ग महोदय** के एक निर्णय की प्रति भी उस व्यवहार न्यायाधीश को भेजी थी आप भी पढ़ना। उसका संपादन हमारे द्वारा किया जा चुका है यथा समय यथा स्थान प्रकाशित होगा। कुछ अंश यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं। पूर्व में भी ज्योति में इसी विषय पर उन्हीं माननीय महोदय का निर्णय प्रकाशित हुआ था।

2001(2) एम.पी.एच.टी. (छतीसगढ़ भाग) पेज 290 राजू वि. म.प्र.राज्य में चरण 11 में जो बात **परिवर्तित स्थिति** विषय में बताई है वह इस प्रकार है।

11. This Court had been repeatedly writing and is requesting the 'Hon'ble Learned Judges' of the Lower Courts that 'the change of circumstances is not an extra-ordinary technical term. The change of circumstances are in fact bundle of facts which may time and again persuade a Judge to grant repeat application'. In a case like present where three named persons have already been admitted to bail then rejection of the application of the fourth would not only be bad but illegal and rejection of the repeat application on the ground that the application of the others was granted by another Judge, therefore, the repeat application could not be allowed is a bad order. By making the said observation the present Judge was probably making some insinuation against the first Judge or wanted to convey that the first Judge without application of mind had granted bail.

एक अन्य दृष्टांत **ज्योति ऑगस्ट 2000 पृष्ठ 481 टिट बिट क्र. 22** पर प्रकाशित हुआ है जो **2000(2) एम.पी.एच.टी. 321 चंद्रशेखर विरुद्ध स्टेट** का है उसके अंश इस प्रकार हैं। उसमें भी परिवर्तित परिस्थिति के विषय में ही बताया

22. CR.P.C., SECTIONS 437, 438 AND 439 AND CRIMINAL TRIAL "CHANGED CIRCUMSTANCES" EXPLAINED:
2000(2) M.P.H.T. 321
CHANDRASHEKHAR Vs. STATE OF M.P.

A Magistrate even after rejection of application under Section 438 Cr.P.C. may grant bail to the accused under Section 437. The words "Changed circumstances" means a court should always remember that the changed circumstances does not simply means an absolute overhaul in the circumstances, but simply

means that something creeping up which may persuade the discretion of the Judge hearing the application to grant bail in favour of the accused. The Court hearing the application for grant of bail should not exercise its jurisdiction for rejecting the application but should always take into consideration that whether justifiable reasons exist for rejecting the application.

In a case under Section 498-A, IPC the Court below has rejected the application mainly on the ground that an application or grant of anticipatory bail was rejected on 4-2-2000 and since, there was no change in the circumstances, hence the applicants would not be entitled for an order of bail. The change which occurred in the circumstances was that the applicants were arrested on 8-2-2000. It was held that simply because an application under Section 438 Cr.P.C. stands rejected, the right of the applicants to be released on bail under Section 439 Cr.P.C. can not be turned out.

आशा की जाना चाहिये कि हम निष्ठा से, निष्पक्ष भाव से न्यायनिष्ठ (आदिल) भाव से कार्य करेंगे जिससे भय नाम की काल्पनिक बात हमारे मन पर शासन न कर पाएँ।

भय का एक और पहलू। सन् 1999-2000 में व्यवहार न्यायाधीश वर्ग-2 के न्यायाधीशों की नियुक्ति हुई। अक्टूबर 1999 से उन्हें ज्योति पत्रिका का वितरण भी किया। लेकिन कुछ एक को समय समय अपने अपने मुख्यालय पर जिला न्यायालय के कार्यालय से पत्रिका नहीं मिलती। ये न्यायाधीश जब यहां प्रशिक्षण के लिए आते रहे तो उनके निवेदन पर उन्हें उन पत्रिकाओं के अंक दे दिये गए जो उन्हें मुख्यालय पर नहीं मिले। प्रत्येक जिला न्यायाधीश को सूचित किया था कि अधिक–कम मात्रा के विषयक जानकारी इस कार्यालय को भेजी जावे जिस आधार से पत्रिका की संख्या कम–अधिक की जा सकेगी। कुछ एक ने ही ऐसा किया। प्रशिक्षण शिविर में भी उन्हें बता दिया था कि वे अपने अपने जिला न्यायाधीश को इस विषय में बता दे लेकिन ये न्यायाधीश हिम्मत नहीं जुटा पाए। एक व्यवहार न्यायाधीश का पत्र आया कि उसे अभी तक पत्रिका नहीं मिली। प्रश्न ये है कि वो मुझे तो लिख सकता है लेकिन अपने जिला न्यायाधीश को इतनी सी बात नहीं बता सकते। प्रशिक्षण शिविर में पूछने पर वे कहते हैं कि जिला न्यायाधीश का कहना होता है कि यह पत्रिका प्रशिक्षु न्यायाधीशों हेतु नहीं है जब कि ऐसा कोई आदेश किसी भी सक्षम प्राधिकारी द्वारा किसी को नहीं दिया गया है। यह पत्रिका निश्चित ही प्रशिक्षुगणों को, उपयोगी हो सकती है, उन्हें मार्गदर्शित सिद्ध हो सकती है। न्यायिक पत्रिका मांगने में किस बात का संकोच। यदि संकोच है तो जिला न्यायाधीश को लिख कर दिया जा सकता है। लेकिन पत्रिका तो मिलती रहना चाहिये।

इस स्तम्भ के माध्यम से सभी जिला न्यायाधीशों से निवेदन है कि 23 जून के बाद पदस्थापनाओं में हुए परिवर्तन के कारण कम अधिक संख्या में पत्रिका की आवश्यकता को अवश्य सूचित करें व यह सुनिश्चित करें कि हर एक न्यायाधीश को पत्रिका नियमित रूप से मिलती रहे।

●

RECOGNIZE THAT MOST OF YOUR FEARS ARE DISGUISED FORMS OF THE FEAR OF WHAT OTHERS THINK OF YOU, AND CONTINUALLY QUESTION AND CHALLENGE THIS FEAR AND MAKE YOURSELF SEE HOW SILLY IT IS

बांड एवं प्रो नोट में अंतर

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

बांड (बंधपत्र) एवं प्रामेसरी नोट (वचन पत्र) में क्या अंतर है यह बखूबी जानने के लिए ***संत सिंह वि. मदनदास 1976 एम.पी.एल.जे. पृष्ठ 238 : 1976 जे.एल.जे.235 ए.आई.आर.1976 एम.पी.(पूर्ण पीठ)*** का निर्णय जान लेना अत्यंत लाभदायक होगा। सुस्पष्ट एवं बिंदुवार विश्लेषण उसमें दर्शाया गया है। अतः इन सब बातों को सार संक्षिप्त में बताना मात्र पर्याप्त होगा।

परिभाषाएँ :

बांड की परिभाषा स्टॅम्प ॲक्ट की धारा 2(5) में बताई है वह इस प्रकार है

धारा 2(5) 'Bond' includes

a) any instrument whereby a person obliges himself to pay money to another, on condition that the obligation shall be void if a specified act is performed, or is not performed, as the case may be;

b) any instrument attested by a witness and not payable to order or bearer, whereby a person obliges himself to pay money to another; and

c) any instrument so attested, whereby a person obliges himself to deliver grain or other agricultural produce to another.

प्रामेसरी नोट की परिभाषा स्टॅम्प एक्ट एवं निगोशिएबल इन्स्ट्रूमेंट एक्ट में भी दी है जो क्रमशः इस प्रकार है।

स्टॅम्प एक्ट के अंतर्गत :

धारा 2(21) 'Promissory note' means a promissory note as defined by the Negotiable Instruments Act, 1881;

It also includes a note promising the payment of any sum of money out of any particular fund which may or may not be available or upon any condition or contingency which may or may not be performed or happen.

निगोशिएबल इन्स्ट्रूमेंट एक्ट के अंतर्गत

धारा 4 Promissory note- "A promissory note" is an instrument in writing (not being a bank note or a currency note) containing an unconditional undertaking, signed by the maker to pay a certain sum of money only to or to the order of a, certain person or to the bearer of the instrument.

उक्त परिभाषा में कुछ उदाहरण एवं उस विषय में टीप दी है। ये इस प्रकार हैं–:

ILLUSTRATIONS

"A" signs instruments in the following terms :-

(a) "I promise to pay B or order Rs. 500."

(b) "I acknowledge myself to be indebted to B in Rs. 1,000, to be paid on demand, for value received."

(c) "Mr. B, I O U Rs. 1,000."

(d) "I promise to pay B Rs. 500 and all other sums which shall be due to him."

(e) "I promise to pay B Rs. 500, first deducting thereout any money which he may owe me."

(f) "I promise to pay B Rs. 500 seven days after my marriage with C".

(g) "I promise to pay B Rs. 500 on D's death, provided D leaves me enough to pay that sum."

(h) "I promise to pay B Rs. 500 and to deliver to him my black horse on 1st January next".

The instrument respectively marked (a) and (b) are promissory notes. The instruments respectively marked (c), (d), (e), (f), (g) and (h) are not promissory notes.

स्टॅम्प एक्ट की जो परिभाषा है वह स्वतंत्र रूप से न होकर निगोशिएबल इन्स्ट्रूमेंट एक्ट की परिभाषा को ग्राहय किया है व उसमें स्टॅम्प एक्ट हेतु कुछ तत्व समाविष्ट किये हैं। जिस सम्बन्ध में टिप्पणी बाद में की जाएगी।

धारा 13 निगोशिएबल इन्स्ट्रूमेंट एक्ट में निगोशियेबल इन्स्ट्रूमेंट शब्द को व्यक्त करते प्रोनोट को भी सम्मिलित किया है। वह धारा इस प्रकार है।

13. NEGOTIABLE INSTRUMENT -

(1) A "negotiable instrument" means a promissory note, bill of exchange or cheque payable either to order or to bearer.

EXPLANATION (i) - A promissory note, bill of exchange or cheque is payable to order which is expressed to be so payable or which is expressed to be payable to a particular person, and does not contain words prohibiting transfer or indicating an intention that it shall not be transferable.

EXPLANATION (II) - A promissory note, bill of exchange or cheque is payable to bearer which is expressed to be so payable or on which the only or last indorsement in blanks.

EXPLANATION (III) - Where a promissory note, bill of exchange or cheque, either originally or by indorsement, is expressed to be payable to the order of a specified person, and not to him or his order, it is nevertheless payable to him or his order at his option.

2) A negotiable instrument may be made payable to two or more payees jointly, or it may be made payable in the alternative to one of two, or one or some of several payees.

उक्त धारा 13 में 'Payable to order' (आदेशानुसार देय) शब्द का प्रयोग किया है जो महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में उपरोक्त दृष्टांत में उच्च न्यायालय ने कहा था कि किसी निश्चित स्थान पर अथवा वाद में निश्चित किये हुए स्थान पर 'आदेशानुसार देय' माना जाएगा। क्यों कि ये शब्द **किसी स्थान पर रकम संदाय करने के** विषय में है **न कि किसी अन्य व्यक्ति को** संदाय के विषय में है।

विवादित लेख में ये शब्दावली थी।

".....मांगने पर साहूकार व **मुकाम रायगढ़ या जहाँ पर हुकम दें अदा करूंगा**....."

इस सम्बन्ध में निर्णय के चरण 16 में उच्च न्यायालय ने कहा "..... These words refer to the place of payment. The debtor agreed to pay at such **'place'** as may be specified by the Creditor. It does not refer to any **'person'** so that it is not payable to the order of the person named as 'payee' (साहूकार या वह व्यक्ति जिसने पैसे उधार दिये)

तत्पश्चात उच्च न्यायालय ने आगे यह प्रतिपादित किया कि "..... It would be altogether a different matter if Santasingh had transferred this instrument to some one else. He could have enforced its payment by virtue of the explanation to section 13. But, for the reasons, already stated, it is a promissory note which is not payable ot bearer or order within the meaning of section 4 of the Negotiable Instruments Act but it is within the meaning of promissory note under S. 2 (22) of the Stamp Act. This instrument is, therefore, one which falls both within the defination of 'promissory note' U/S. 2 (22) of the Stamp Act and of a 'bond' under section 2(5) of the Stamp Act. That being so, section 6 of the Stamp Act steps in and this instrument is chargeable to stamp duty as a bond.

4. The essentials of a promissory note are :-
   (1) An unconditional undertaking to pay;
   (2) The sum should be a sum of money and should be certain;
   (3) The payment should be to the order of a person who is certain, or to the bearer of the instrument; and
   (4) The maker should sign it. If these four conditions exist, the instrument is a promissory note.
5. The question of distinguishing a promissory note from a bond arises by reference to clause (b) of the above definition of bond. The essentials of a bond are:-
   (1) There must be an undertaking to pay;
   (2) The sum should be a sum of money but not necessarily certain;
   (3) The payment will be to another person named in the instrument;
   (4) The maker should sign it;
   (5) The instrument must be attested by a witness; and
   (6) It must not be payable to order of bearer. On a comparison between the essentials of a promissory note and those of a bond, three distinguishing features emerge :-
   (i) If money payable under the instrument is not certain, it cannot be a promissory note, although it can be a bond.
   (ii) If the instrument is not attested by a witness, it cannot be a bond, although it may be a promissory note.
   (iii) If the instrument is payable to order or bearer, it cannot be a bond, but it can be a promissory note.
6. To put is differently, there are two peculiar features of a bond :-
   (1) Positive-it must be attested by a witness.
   (2) Negative-it must not be payable to order or bearer.

7. It is also clear that if in an instrument the above two distinguishing features (positive and negative) are present, then, even if the four essentials of a promissory note are also present, the instrument will still be a bond, because **all the ingredients of a promissory note are also present in a bond with the exception that whereas a promissory note can be payable, apart from the person named in it, to the order of that person or to the bearer of the instrument, a bond cannot be payable to order or bearer.**

8. Therefore, an instrument, which is not payable to bearer or order but is attested by a witness will also be a bond within the definition of section 2(5) of the Stamp Act, although simultaneously it may also fall within the definition of promissory note within the meaning of section 2 (22) of the Stamp Act read with section 4 of the Negotiable Instruments Act.

धारा 6 स्टॅम्प ॲक्ट इस प्रकार है -

Sec. 6 Instruments coming within several decriptions in Schedule I.

Subject to the provisions of the last preceeding section, an instrument so framed as to come within two or more of the descriptions in Schedule I, shall, where the duties chargeable there under are different, be chargeable only with the highest of such duties.

Provided that nothing in this Act contained shall render chargeable with duty exceeding one rupee a counterpart or duplicate of any instrument chargeable with duty and in respect of which the proper duty has been paid.

परिशिष्ठ 1ए (म.प्र.) अनुक्रमांक 15 स्टॅम्प एक्ट में बांड पर स्टॅम्प डयूटी बताई है तो परिशिष्ठ 1 में अनुक्रमांक 49 पर प्रामेसरी नोट पर स्टॅम्प डयूटी बताई है।

उच्च न्यायालय के प्रारंभ में उल्लेखित निर्णय चरण 4, 5, 6 में बांड एवं प्रोनोट के बीच अंतर बताया है तत्पश्चात चरण 7–8 में उसका सार दर्शित किया है। चरण 4–5–6–7 एवं 8 इस प्रकार है।

धारा 13 निगोशिएबल इंस्ट्रूमेंट ॲक्ट में जो स्पष्टीकरण क्र. 1 दर्शाया है उस संबंध में विवेचन यह होगा कि ऐसे स्पष्टीकरण से विधिक कल्पना (Legal Fiction) की गई हैं अर्थात जहां प्रोनोट payable to Order (आदेशानुसार देया या नाम जोग) या बिअरर (वाहक, धारक) शब्दों से अभिव्यक्त नहीं है वहां उक्त विलेख शोध्य होने पर रकम उस व्यक्ति को देय होगी जो विलेख में विलेखित है अर्थात जिसने रकम उधार दी। लेकिन आदेशानुसार देय या नाम जोग अथवा वाहक–धारक को देय नहीं होना है। प्रोनोट में यदि यह न लिखा हो कि प्रोनोट धारक को या आदेशानुसार देय या नाम जोग है तब भी वह प्रोनोट ही होगी जब तक कि उसमें ये निर्देश न हो कि वह ऐसी नहीं होगी। धारा 13 के स्पष्टीकरण का मूल उद्देश्य ही यह है कि जहां प्रोनोट हस्तांतरित किया जाता है तो लेनदार ने जिसे हस्तांतरित किया है तो वह पैसे वसूल करने की कार्यवाही कर सकेगा। विलेख में यह शर्त नहीं होना चाहिये कि यह प्रोनोट धारक या आदेशानुसार देय या नाम जोग नहीं होगी। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि एक स्थान या अन्य स्थान पर देयता बांड को प्रोनोट नहीं बनाती।

(जिला स्तर के न्यायाधीशों को यह विनम्र निवेदन है कि उक्त दृष्टांत को समग्र रूप से पढ़ें।

कुछ दृष्टांतों को सार संक्षेप इस प्रकार है–

(1) A document which contains simply promise to pay on demand a certain sum to a specified person is a promissory note ***Bankidas Vs. Tanabai A.I.R. 1929 Nagpur***

Page 173, लेकिन यदि उक्त विलेख अॅटेस्ट किया गया तो वह बांड हो जाता है जैसे कि ***दशरथ वि काशीराम, ए. आई.आर. 1937 नागपुर 61*** में कहा गया है। उक्त विचार **आय.एल.आर. बॉम्बे** पर आधारित था लेकिन ***गोविंद वि हरिभाऊ ए.आई.आर. 1933 नागपुर 391*** में कहा गया कि प्रोनोट पर साक्षियों के हस्ताक्षर (अॅटेस्टेशन) हो तब भी प्रोनोट होगा। अर्थात Payable to order or bearer का सिद्धांत मात्र महत्वपूर्ण है।

म.प्र. के पुराने मध्यभारत में महाजनी पद्धति से रखे हिसाबात में 'बाकी लेना' अथवा 'बाकी देना' ये शब्द प्रयोग होते रहे हैं। 'खाता रजु' ऐसा भी लिखा जाता रहा है। इस सम्बन्ध में कुछ अंश साभार–**राजकमल प्रकाशन** के **एम.पी.लॉज मॅन्यूअल द्वितीय संस्करण भाग 1, बीस वर्षीय डायजेस्ट (1957-1981)** साभार **जे.एल.जे. ग्वालियर** एवं अन्य पुस्तकों से कुछ दृष्टांत व टीप यहां प्रस्तुत कर रहा हूँ वह इस प्रकार है –

DISTINCTION BETWEEN 'BOND' AND 'ACKNOWLEDGMENT' :-

1) A document cannot be held to be bond simply because of an implied promise to pay, there being no express promise contained in the document. ***Nandram Vs. Vardichand. 1975 JLJ (N) 7.***

2) Where in the account book the words appeared were "Baki Lena", it is an acknowledgment and not bond. The words "Baki Dena" amount to a bond. ***Gulabchand Jain Vs. Bhama, AIR 1972 Mp 54=1972 MPLJ 63=1971 JLJ 1002.*** See also ***Prem Singh Vs. Gajrabai, AIR 1959 MP 327=1959 MPLJ 1005=1959 JLJ 62.***

3) Mere signing of a balance in account books, even if it is attested does not necessarily make instrument a bond even if the obligation to pay is implied. But where words are added showing an obligation to pay, the matter becomes different. A promise to pay interest added to an acknowledgment of a debt in a Mahajani account book is an agreement chargeable under clause (3) and (5) ***Chhaganlal Vs. Emperor, AIR 1934 Nag 261.***

Suit was based on acknowledgment. The acknowledgment contained the words "Dena Ruju". The acknowledgment did not bear any stamp. The acknowledgment contained an express promise to pay and hence though unstamped was admissible in evidence. The suit based on such acknowledgment is maintainable. **C.R. 135/61,D/-20-1-62.**

इस प्रकार धारा 25 संविदा अधिनियम के अंतर्गत भी इस विषय पर संदर्भ उपलब्ध होगां। यहां इस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जाता है कि बांड का संदर्भ धारा 74 संविदा अधिनियम के अंतर्गत भी है तो दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत भी प्रतिभूति के विषय पर भी है। बांड का संदर्भ Bottom Bond के अतिरिक्त Bond for appearance, Bond for good behaviour, conditional bond, indemnity bond, personal bond, bond to keep the peace हेतु भी होता है।

बांड के अंतर्गत नगदी लेना देना नहीं होता है लेकिन उसका उल्लंघन होने पर एक पक्ष दूसरे पक्ष को तीसरे पक्ष के द्वारा शर्त के किए उल्लंघन के लिए दायी हो सकता है।

विषय को सार संक्षिप्त में इस प्रकार बताया जा सकता है।

In order to draw a distinction between a 'bond' and a 'promissory note', one should bear in mind the following points :

i) A promissory note if executed in favour of a specified person, not payable to order or bearer, should in no case be attested. Once it is attested, it no longer remains a promissory note and would be chargeable as a 'Bond'.

ii) It is not necessary that the words "Not payable to or bearer" or any other words signifying that meaning, should be written in the document, in order to treat it as a 'Bond'. If the instrument contains nothing to prohibit transfer or its negotiability, still it would be treated as a Bond, if the same is attested.

iii) An instrument not attested, can never be treated as Bond. Similarly an instrument which is expressly made payable to order or bearer, shall not be treated as Bond.

EXAMPLE :-

On demand I.....residing at.....promise to pay to 'X' a sum of Rs.....:.....together with interest thereon at 6% per annum for value received in cash.

Executed at.....this the ..... day of ..... year

Witnesses :-

1)

2) (Sd/-).....

The document is payable to certain person and there are no words prohibiting transfer or indicating an intention that it shall not be transferable. The document satisfied the requirements of section 4. By virtue of this Explanation it is a promissory note payable to order as it is expressed to be payable to a particular person and does not contain words prohibiting transfer or indicating an intention that it shall not be transferable. It is therefore negotiable.

But for Explanation 1st to S-13 the document would not be negotiable.

आशा है उपरोक्त विवरण जो संक्षिप्त रूप से सीमित विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है सम्पूर्ण विस्तार सहित समझने में मददगार हो सके।

●

DEVELOPING PEOPLE REVOLVES ROUND DEVISING A TRAINING PROGRAMME TO ALLEVIATE SOME OF THESE NEGATIVE FEELINGS AND ENHANCING THE THINGS THAT MOTIVATE THEM.

Claudio & Maria Vignali

●

IN A RAPIDLY CHANGING SOCIETY, EMPLOYEE TRAINING IS AN ACTIVITY THAT AN ORGANISATION MUST COMMIT RESOURCES TO. IT IS TO MAINTAIN A VIABLE AND KNOWLEDGE WORK FORCE.

David A Denzo & Stephen P Robbins

आदेश पत्र में संयम

अग्रगामी योजना – (पायलेट प्रोजेक्ट) प्रारम्भ हो गई है। उन सब को हार्दिक अभिनंदन एवं शुभकामनाएँ जिन्हें ऐसे पवित्र न्यायदान के यज्ञ कार्य में सम्मिलित होने का शुभ अवसर मिला है। अब यह महत्वपूर्ण नहीं है कि यज्ञार्थि कितना परिश्रम करते हैं, क्यों कि परिश्रम तो हर कोई अपनी अपनी शक्ति व इच्छा शक्ति से करता ही है, महत्वपूर्ण यह होगा कि उक्त कार्य को हम कितनी अच्छी तरह व सच्चाई से करते हैं।

उत्साही होकर कार्य करना है, सही बात है। परंतु उस उत्साह में प्रक्रिया एवं सारवान विधि की उपेक्षा नहीं होना चाहिये। सारवान विधि की तुलना में प्रक्रिया सम्बन्धी विधि ज्यादा उपेक्षित हो सकती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि पायलेट प्रोजेक्ट लागू हो जाने मात्र से प्रक्रिया विधि में विधायिका ने ढील दी हो ऐसी बात नहीं है। प्रक्रिया से हट कर इस योजना में कार्य नहीं करना है। अन्यथा वह असफल होगी।

अन्य जिलों में जब अग्रगामी योजना क्रियान्वित हुई थी तब एक प्रकरण में उच्च न्यायालय ने ऐसा ही कुछ पाया। विचारण न्यायालय ने लिखा था कि प्रकरण काफी पुराना है कई बार अवसर दिया जा चुका है व अब पायलेट प्रोजेक्ट भी लागू हुआ है एवं प्रकरणों का शीघ्र निराकरण भी किया जाना है अतः और समय नहीं दिया जा सकता, प्रकरण में साक्ष्य का अधिकार समाप्त किया जाता है। इस आदेशिका के विरूद्ध रिविजन हो गई व आदेश अपास्त हो गया क्यों कि आदेश का संतुलन (Equilibrium) गड़बड़ा गया था। वह Back to front (with the back placed where the front should be) हो गया। आशय, भावना आपकी सही रही होगी लेकिन उक्त न्यायाधीश की अभिव्यक्ति गड़बड़ा गई। वो इसलिये कि आदेश पत्र (आदेशिका, आर्डरशीट) से ध्वनि यह निकल रही थी जज साहब तो मुकदमें को निपटाने में लगे हैं, न कि विधिवत न्याय करने में क्यों कि पायलेट योजना शुरू हो गई है। पायलेट योजना लागू हुई है यह तो जग जाहिर है उसे क्या आदेशिका में लिखना, लिखना वो जिससे ज्ञात हो कि न्यायालय अब सस्ते में (आसानी से) समय नहीं देगा। जैसे शासन ने अनुदान (सबसिडी) कम करते ही वस्तुएँ महंगी हो जाती हैं व उपभोक्ता को उस वस्तु का मूल्य व महत्व तुरंत समझ में आ जाता है। जैसे Face is miirror of mind वैसे ही Ordersheet is mirror of one's work. आदेशिका सशक्त हो, कारण की अभिव्यक्ति स्पष्ट हो एवं अपने विवेक में किन्तु–परन्तु (ifs and buts) न हो। आदेशिका (आदेश पत्र) जिसके द्वारा हम किसी पक्ष का अधिकार वंचित करते हैं तब हम उन आधारों को सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करेंगे व न्यायिक विवेक के आधार से ही ऐसा करेंगे जिससे उक्त आदेशिका को पढ़ने वाले को प्रकरण का पूर्ण चित्र सामने आ जाए।

पायलेट प्रोजेक्ट की सफलता के लिये यह आधार सबल रहेगा कि आपकी आदेशिका (आदेश पत्र) की गुणवत्ता क्या है। सही है कि आदेशिका लिखने में कुछ ज्यादा समय लगेगा लेकिन वह आपकी पूंजी होगी। यह इसलिये कि यदि आदेश पत्र से वरिष्ठ न्यायालय को, प्रकरण के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी मिल जाती है व आदेशिका में या पृथक से लिखे आदेश में ऐसा ही आदेश क्यों पारित किया इसकी पृष्ठ भूमि ज्ञात हो जाएगी तो, मूल प्रकरण को बुलाने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस प्रकार आदेश/आदेश पत्र लिखने में यदि पांच–दस मिनिट ज्यादा भी लग जावे तब भी आपकी फाईल वरिष्ठ न्यायालय में जाने से बच जाएगी व तीन चार माह का समय तो कम से कम बच ही जाएगा। वरिष्ठ न्यायालय उस स्थिति में अधिवक्तगणों से ही अभिकथनों आदि को देख सकेगी।

प्रशिक्षण कक्षाओं में भी आदेश पत्र किस प्रकार सारगर्भित रूप से लिखे जाना चाहिये इस विषय पर विस्तार से बताया गया है। उन विचारों को पुनः याद कर लें, धार चढ़ा दें व क्रियान्वित कर लें।

HANDCUFFS, FETTERS AND AN ACCUSED PERSON

We find law relating to arrest of a person in chapter V from Ss. 41 to 60 and in chapter VI from Ss. 70 to 81, and S. 87 and S. 89 of the Cr.P.C.

The Supreme Court of India in its classical decision in ***Citizen for Democracy Vs. State of Assam (1995) 3 S.C.C. 743*** laid down the following law relating to the use of handcuffs and fetters for the arrested person. The Appex Court has also stated certain circumstance under which hand cuffs and fetters may be used. The Supreme Court has said that the law declared in ***Prem Shankar Shukla Vs. Delhi Admn. (1980) 3 SCC 528*** and ***Sunil Batra V. Delhi Admn (1978) 4 SCC. 494*** and the directions issued by the Supreme Court are binding on all concerned and any violation or circumvention shall attract the provisions of the contempt of Courts Act apart from other penal consequences under law.

The directions issued by the Supreme Court are reproduced from paragraphs 16 to 21 of the said judgement i.e. ***Citizens for Democracy Vs State of Assam*** 1995 (3) SCC. 743 (751)

16. We declare, direct and lay down as a rule that handcuffs or other fetters shall not be forced on a prisoner-convicted or undertrial-while lodged in a jail anywhere in the country or while transporting or in transit from one jail to another or from jail to court and back. The police and the jail authorities, on their own, shall have no authority to direct the handcuffing of any inmate of a jail in the country or during transport from one jail to another or from jail to court and back.

17. Where the police or the jail authorities have well-grounded basis for drawing a strong inference that a particular prisoner is likely to jump jail or break out of the custody then the said prisoner be produced before the Magistrate concerned and a prayer for permission ot handcuff the prisoner be made before the said Magistrate. Save in rare cases of concrete proof regarding proneness of the prisoner to violence, his tendency to escape, he being so dangerous/desperate and the finding that no other practical way of forbidding escape is available, the Magistrate may grant permission to handcuff the prisoner.

18. In all the cases where a person arrested by police, is produced before the Magistrate and remand-judicial or non-judicial - is given by the Magistrate the person concerned shall not be handcuffed unless special orders in that respect are obtained from the Magistrate at the time of the grant of the remand.

19. When the police arrests a person in execution of a warrant of arrest obtained from a Magistrate, the person so arrested shall not be handcuffed unless the police has also obtained orders from the Magistrate for the handcuffing of the person to be so arrested.

20. Where a person is arrested by the police without warrant the police officer concerned may if he is satisfied, on the basis of the guidelines given by us in para above, that it is necessary to handcuff such a person, he may do so till the time he is taken to the police station and thereafter his production before the Magistrate. Further use of fetters thereafter can only be under the orders of the Magistrate as already indicated by us.

21. We direct all ranks of police and the prison authorities to meticulously obey the above-

mentioned directions. Any violation of any of the directions issued by us by any rank of police in the country or member of the jail establishment shall be summarily punishable under the Contempt of Courts Act apart from other penal consequences under law.

●

बेहतर है जान लो

विलेखों का प्रदर्शित करना

आ. 13 नि. 4 व्य.प्र.स., आदेश 13 नियम 5 के प्रावधानों को यहां ज्यों का त्यों त्वरित संदर्भ हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही आ. 7 नि. 17 के प्रावधान भी प्रस्तुत किये जा रहे हैं ताकि विषय वस्तु सुस्पष्ट रूप से समझ में आ सके।

न्यायालय में जब साक्ष्य में कोई विलेख प्रदर्शित होता है तो हम उस पर पी 1 आदि या डी 1 अथवा ए–1 या एन.ए. 1 अंकित करते हैं। पी का अर्थ प्लेन्टिफ व डी का अर्थ डिफेन्डन्ट है तो ए का अर्थ एप्लीकेन्ट व एन. ए. का अर्थ नॉन एप्लीकेन्ट है।

ये प्रदर्श क्यों डालते हैं व किस प्रक्रिया के अंतर्गत डालते हैं यह बात सभी को मालूम होगी ऐसा मान लेते है लेकिन पुनर्निवेशन–स्मृति ताजा करने हेतु तथा विस्मृति से बचने हेतु यहां प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है।

साक्ष्य लिपिबद्ध करते समय हम केवल प्रदर्श लिखकर छोड़ देते हैं लेकिन बाद में रीडर फाईल को जब व्यवस्थित कर रेकार्ड रूप भेजता है तब उस पर एक सील लगाकर आवश्यक विवरण लिखता हैं व पीठासीन अधिकारी के हस्ताक्षर प्राप्त कर लेता है। संभव है कि आपके सामने विलेख (डाक्यूमेंट) प्रदर्शित न हुआ हो लेकिन आप उस प्रमाण पत्र पर हस्ताक्षर करेंगे क्योंकि यह औपचारिकता भर है किसी दायित्व के सम्बन्ध में हस्ताक्षर नहीं हो रहे हैं। नीचे अनुसार चौकोर सील होती है उसमें विवरण लिखा जाता है–

न्यायालय का नाम

1. प्रकरण क्रमांक एवं नाम : .....
2. विलेख क्रमांक : .....
3. किस साक्षी ने सिद्ध किया : .....
4. किस दिनांक को (साक्ष्य में) प्रस्तुत हुआ : .....

हस्ताक्षर न्यायाधीश

कुछ विलेख ऐसे होते हैं जो न्यायालय में प्रकरण के अंतिम निराकरण तक नहीं रखे जा सकते। जैसे खाते–बही, रसीद बुक, लोक–विलेख जो अभी भी व्यवासाय में उपयोग में लिये जा रहे हैं आदि, उस सम्बन्ध में ऊपर अनुसार सील सिक्के तो लगेंगे लेकिन उन्हें लौटाने की प्रक्रिया भी दर्शाई है। मूल विलेख लौटाने के साथ साथ एक प्रति न्यायालय में रख ली जाती है व उस पर प्रदर्श पी 1 सी कर देंगे अर्थात सी का अर्थ कॉपी से हो जाएगा। आदेश 13 नि. 5 के प्रावधान भी अपने आप में स्पष्ट हैं जिस विषय में ऊपर संक्षिप्त में बताया है।

जो विलेख साक्ष्य में ग्राह्य नहीं होते हैं उस सम्बन्ध में प्रावधान आदेश 13 नियम 6–7 में बताया है। वे प्रावधान भी प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

कुछ दावों के साथ बही खाते व उनकी नकलें प्रस्तुत होती हैं। ये बही खाते आदि दैनंदिन रूप से व्यापारीयों के काम आते हैं उन्हें न्यायालय में नहीं रोका जा सकता। अतः उसकी प्रक्रिया यह है कि रिसिविंग सेक्शन से जब दावा सम्बन्धित न्यायालय में आएगा तो व्यापारी की ओर से बही खातें आएंगे उन्हें दावे में प्रस्तुत नकलों के साथ मिलान करना चाहिये व उस पर न्यायालय की सील लगाकर व हस्ताक्षर करके लौटा देना है। ये विलेख साक्ष्य के समय मूलरूप से प्रस्तुत होंगे। वे विधिवत प्रमाणित होने पर आदेश 13 नि. 4 व्य.प्र.स. के अनुरूप ही कार्यवाही करना होती हैं।

समस्त प्रावधान इस प्रकार हैं :–

आदेश 7 नियम 17. दुकान का बहीखाता पेश करना - (1) वहाँ तक के सिवाय जहाँ तक कि बैककार बही साक्ष्य अधिनियम, 1891 (1891 का 18) द्वारा अन्यथा उपबन्धित है, उस दशा में जिसमें कि वह दस्तावेज जिसके आधार पर वादी वाद लाता है, दुकान के बही खाते या अन्य लेखे में की जो उसके अपने कब्जे या शक्ति में है, प्रविष्ट है, वादी उस प्रविष्टि की जिस पर वह निर्भर करता है, प्रति के सहित उस बही खाते या लेखे को वाद–पत्र के फाइल किए जाने के समय पेश करेगा।

(2) मूल प्रविष्ट का चिन्हांकित किया जाना और लौटाया जाना- न्यायालय या ऐसा अधिकारी जिसे वह इस निमित्त नियुक्त करे, तत्क्षण दस्तावेज को उसकी पहचान के प्रयोजन के लिये चिन्हांकित करेगा और प्रति की परीक्षा और मूल से तुलना करने के पश्चात् यदि वह सही पाई जाए तो यह प्रमाणित करेगा कि वह ऐसी है और बही खाता वादी को लौटाएगा और प्रति को फाइल करायेगा।

आदेश 13 नियम 4. साक्ष्य में गृहीत दस्तावेजों पर पृष्ठांकन-(1) ठीक आगामी उपनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए, हर ऐसी दस्तावेज पर, जो वाद में साक्ष्य में ग्रहण कर ली गई है, निम्नलिखित विशिष्टियाँ पृष्ठांकित की जाएंगी, अर्थात्–

(क) वाद का संख्यांक और शीर्षक,

(ख) दस्तावेज को पेश करने वाले व्यक्ति का नाम,

(ग) वह तारीख जिसको वह पेश की गई थी, तथा

(घ) उसके इस प्रकार ग्रहण किए जा चुकने का कथन और पृष्ठांकन न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षरित या आद्यक्षरित किया जाएगा।

(2) जहाँ इस प्रकार गृहीत दस्तावेज किसी बही, लेखा या अभिलेख में की प्रविष्टि है और ठीक आगामी नियम के अधीन मूल प्रति के स्थान में उसकी एक प्रति रख दी गई है वहाँ पूर्वोक्त विशिष्टियों का पृष्ठांकन उस प्रति पर किया जाएगा और उस पर का पृष्ठांकन न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षरित या आद्यक्षरित किया जाएगा।

आदेश 13 नियम 5. बहियों, लेखाओं और अभिलेखों में की गृहीत प्रविष्टियों की प्रतियों पर पृष्ठांकन-(1) वहां तक के सिवाय जहाँ तक कि बैंककार वही साक्ष्य अधिनियम, 1891(1891 का 18) द्वारा अन्यथा उपबंधित है, उस दशा में जिसमें वाद के साक्ष्य में गृहीत दस्तावेज डाक बही या दुकान बही या अन्य लेखा में की जो चालू उपयोग में रहता है, प्रविष्टि है वह पक्षकार, जिसकी ओर से वह बही या, लेखा पेश किया गया है, उस प्रविष्टि की प्रति दे सकेगा।

(2) जहाँ ऐसी दस्तावेज लोक कार्यालय में से या लोक अधिकारी द्वारा पेश किये गये लोक अभिलेख में

की प्रविष्टि है या जिस पक्षकार की ओर से वह बही या लेखा पेश किया गया है उससे भिन्न व्यक्ति की बही या लेखा में की प्रविष्टि है वहाँ न्यायालय अपेक्षा कर सकेगा कि उस प्रविष्टि की प्रति–

(क) जहाँ वह अभिलेख, बही या लेखा पक्षकार की ओर से पेश किया गया है वहाँ उस पक्षकार द्वारा दी जाए, अथवा

(ख) जहाँ वह अभिलेख, बही या लेखा ऐसे आदेश के अनुपालन में पेश किया गया है जो स्वप्रेरणा पर कार्य करते हुए न्यायालय ने दिया है वहाँ दोनों पक्षकारों या किसी भी पक्षकार द्वारा दी जाए।

(3) जहाँ प्रविष्टि की प्रति इस नियम के पूर्वगामी उपबंधों के अधीन दे दी गयी है वहाँ न्यायालय आदेश 7 के नियम 17 में वर्णित रीति से प्रति की परीक्षा और तुलना एवं प्रति को प्रमाणित कराने के पश्चात् प्रविष्टि को चिन्हित करेगा और उस बही, लेखा या अभिलेख को जिसमें वह है, उसे पेश करने वाले व्यक्ति को लौटवा देगा।

आ. 13 नियम 6. साक्ष्य में अग्राह्य होने के कारण नामंजूर दस्तावेजों पर पृष्ठांकन- जहाँ उस दस्तावेज को जिस पर साक्ष्य के रूप में दोनों पक्षकारों में से कोई निर्भर करता है, न्यायालय साक्ष्य में अग्राह्य ठहरा देता है वहाँ नियम 4 के उपनियम (1) के खंड (क), (ख) और (ग) में वर्णित विशिष्टयाँ इस कथन के सहित कि वे नामंजूर कर दी गई हैं, उस पर पृष्ठांकित की जाएँगी और पृष्ठांकन न्यायाधीश द्वारा हस्ताक्षरित या अद्याक्षरित किया जाएगा।

आ. 13 नियम 7. गृहीत दस्तावेजों का अभिलेख में सम्मिलित किया जाना और नामंजूर की गई दस्तावेजों का लौटाया जाना–**(1)** हर ऐसी दस्तावेज जो साक्ष्य में ग्रहण कर ली गई है या जहाँ नियम 5 के अधीन मूल प्रति के स्थान में उसकी प्रति रखी गई है वहाँ उसकी प्रति, वाद के अभिलेख का भाग होगी।

(2) दस्तावेजें जो साक्ष्य में ग्रहण नहीं की गई हैं, अभिलेख का भाग नहीं होगी और वे, यथास्थिति, उन व्यक्तियों को लौटा दी जाएँगी जिन्होंने उन्हें पेश किया था।

●

बेहतर है जान लो

इ्यूटी - पेनल्टी का वसूल करना

कोई विलेख साक्ष्य में ग्राह्य है या नहीं इस विषय का विवाद न्यायालय जब निर्धारित करता है व कहता है कि अमूक डयूटी–पेनल्टी देय है तो वह न्यायालय में जमा की जाती है। तदुपरान्त वह डयूटी पेनल्टी नाजिर कोषालय में निर्धारित शीर्षक के अंतर्गत जमा कर देता है। डयूटी पेनल्टी किस दर से देय होती है यह बात धारा 35 के परन्तुक (ए) से विशेष रूप से ज्ञात होगा। न्यायालय अपने आदेशपत्र (बोलचाल की भाषा में आदेशिका) के माध्यम से बताएगा तत्पश्चात आदेशित व्यक्ति की ओर से एक आवेदन पत्र (बिना कोर्ट फीस के) प्रस्तुत होगा कि न्यायालय के आदेशानुसार अमुक विलेख पर इतनी डयूटी–पेनल्टी देय है व जमा करने का आदेश दिया जावे। न्यायालय उस आवेदन पत्र पर विधिवत आदेश मार्जिन में लिखेगा कि नाजिर अमुक रकम डयूटी की व अमुक रकम पेनल्टी की कुल अमुक रकम सी.सी.डी. (सिविल कोर्ट डिपासिट) में जमा करें। नाजिर ऐसा करके पावती जमाकर्ता को देगा। जमाकर्ता वह पावती न्यायालय को दर्शाएगा। न्यायालय उक्त विलेख पर दृष्य स्थान पर लिख देगा कि रूपये अमुक डयूटी के व रूपये अमुक पेनल्टी के कुल रूपये इतने रसीद क्र.....बुक क्र..... दि..... द्वारा नजारत में जमा हुए व अपने हस्ताक्षर करेगा व आदेश पत्रिका में भी ऐसा ही लिखेगा। ऐसा होने पर वह विलेख हर हमेशा के लिए उचित डयूटी युक्त मान लिया जाएगा। इस सम्बन्ध में दो लीडिंग केसेस भी देखने योग्य हैं वो हैं–

(1) ***जवेरचंद विरूद्ध पुखराज*** **ए.आई.आर. 1961 सु.को. 1655**

(2) ***रामरतन विरूद्ध बजरंग,*** **ए.आई.आर. 1978 सु.को. 1393**

ये दृष्टांत विलेख को किस प्रकार से प्रदर्शित किया जाकर सांक्ष्य में ग्राह्य किया जाता है इस विषय में बताते हैं।

न्यायालय यह स्टॅम्प डयूटी व पेनल्टी नगद प्राप्त करके कोषालय में जमा करेगा व सम्बन्धित न्यायालय विलेख की एक नकल व वसूल की गई रकम का विवरण भी कलेक्टर (स्टॅम्प) को भेजेगा। इस सम्बन्ध में कुछ एक्जीक्युटिव निर्देश है जो स्टॅम्प मॅन्यूअल खंड 1 1962 का म.प्र. राज्य शासन का प्रकाशन, संशोधित नोटिफिकेशन क्र. बी-6-10 पांच -एस.आर. 82-3478 दि. 06-7-1984 है जो दि. 10-7-1984 के असाधारण राजपत्र के पृष्ठ 1828 पर प्रकाशित हुआ है उसका कुछ–अंश इस प्रकार है–

Acceptance of duty in cash 10- By sec. 10 all duties with which any instruments are chargeable shall be paid-and such payment shall be indicated on such instruments - by means of stamps except as otherwise expressly provided. Thus the exceptions thus referred to are the following -

(a) When documents that are not duly stamped are impounded and assessed to duty under the provisions of chapter IV of the Act, the duty is recovered by the Court or collector in cash; and the fact of its having been paid is indicated by the endorsement of a certificate under the hand of the Court or collector.

धारा 2 (11) स्टॅम्प ॲक्ट में 'डयूली स्टॅम्प्ड' की परिभाषा इस प्रकार है–

2 (ii) - 'Duly stamped' as applied to an instrument, means that the instrument bears an adhesive or impressed stamp of not less than the proper amount, and that such stamp has been affixed or used in accordence with the law for the time being in force in India.

साक्ष्य के समय चैतन्य अवस्था में बैठकर विलेख के ग्राह्यता के समय ध्यान देना अन्यथा विलेख साक्ष्य में ग्राह्य हो जाएगा व न्यायालय धारा स्टॅम्प एक्ट की 36 के अनुसार कुछ नहीं कर सकेगा।

●

बेहतर है जान लो

विलेखों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करना

(आ. 13 नि. 7 के नियम 3 म. प्र. संशोधन)

उक्त संक्षिप्त लेख लिखने का स्फुरण मुझे ***हुकमत राय वि. शम्भूलाल 1998 (1) एम.पी.एल.जे. 641*** को पढ़कर हुआ था। जो कि **ज्योति 1998 भाग 4 ऑगस्ट पृष्ठ 57** पर प्रकाशित हुआ है। स्थानाभाव के कारण कई लेख प्रकाशित होने से रूके हुए हैं। पायलेट प्रोजेक्ट के लागू होते इसे प्रकाशित करना उचित समझा। वादी प्रतिवादी उपरोक्त प्रकरण में सिंधी भाषिक हैं। एक विलेख भी सिंधी में था जो दावे में प्रस्तुत किया गया। दूसरे पक्ष ने आपत्ति की कि यह लेख प्रस्तुत नहीं हो सकता क्योंकि हिन्दी में नहीं है। मामला उच्च न्यायालय में गया। उच्च न्यायालय ने कहा कि चूंकि दोनों पक्ष सिंधी हैं व दोनों को सिंधी आती है अतः लेख प्रस्तुत हो सकता है। व्यवहार प्रक्रिया की संहिता धारा 137 पर आधारित इस लेख में धारा 98 साक्ष्य अधिनियम का खुलासा भी है। उच्च न्यायालय ने अंत में यह भी कहा कि उसके सामने कोई भी नियम या अन्य विधि प्रावधान प्रस्तुत नहीं किया है। ज्योति जर्नल में उक्त दृष्टांत प्रकाशित करते समय विशेष सावधानी रखी गई थी कि उस सम्बन्ध में मध्यप्रदेश संशोधन भी प्रकाशित हो अतः वैसा किया भी गया।

धारा 98 साक्ष्य अधिनियम न पढ़ी जा सकने वाली लिपि, (बोली) के अर्थ के विषय में साक्ष्य प्रस्तुती के सम्बन्ध में है। धारा 137 व्य.प्र.सं. अधीनस्थ न्यायालयों की भाषा विषयक है। इन सब प्रावधानों की सभी दृष्टि से यहां कोई सुसंगता नहीं है। यदि हम व्य.प्र.स. के आदेश 13 नियम 7 में जोड़े गए नियम 7(3) को पढ़ेंगे तो प्रत्येक बात स्पष्ट हो जाएगीं पुनः स्मरण कराया जा रहा है कि मध्यप्रदेश के संशोधन जो व्य.प्र.स. में किए गए हैं तथा जो **1997 ज्योति भाग 3 जून माह पृष्ठ 27** से प्रकाशित किए हैं की उपेक्षा न हो। साथ ही नियम एवं आदेश व्यवहार न्यायालय एवं अपराधिक की उपेक्षा न हो। हर बात मार्गदर्शन होगी।

प्रश्न ये नहीं है कि विलेख सिंधी भाषा में तथा पक्षकार भी सिंधी थे। लेकिन प्रश्न ये है कि प्रकरण के हर स्तर (हर पायदान स्टेज) पर उस विलेख से सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति सिंधी जानता है क्या। क्योंकि इसी का उत्तर उक्त प्रावधान में दिया है वह इस प्रकार है –

उपनियम (2) के बाद उपनियम (3) जोड़ा गया है, जो निम्न प्रकार है :–

आ. 7 नि. (3) साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया दस्तावेज जो न्यायालय की भाषा या अंग्रेजी में नहीं लिखा गया हो वह अंग्रेजी में सही अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जावेगा एवं प्रत्येक दस्तावेज जो न्यायालय की भाषा में लिखे हों, किन्तु जिनकी लिपि देवनागरी के अतिरिक्त अन्य कोई हो वे देवनागरी लिपि में सही भाषान्तर (Transliteration) के साथ प्रस्तुत किये जाएंगे यदि दस्तावेज साक्ष्य में ग्राह्य कर लिया गया हो तो विरूद्ध पक्षकार या तो उस अनुवाद अथवा भाषान्तर का सत्य होना स्वीकार करेगा अथवा दस्तावेज का स्वयं अनुवाद या भाषान्तर प्रस्तुत करेगा। म.प्र. संशोधन अधिसूचना क्रमांक 5283–क दिनांक 16–9–1960 के द्वारा किया गया है।

अतः यह ध्यान रहे कि विलेख किसी भी भाषा का किसी भी लिपि का हो उसका देवनागरी लिपि (हिन्दी अनुवाद भी) में भी प्रस्तुत करने हेतु आग्रह करें व प्रस्तुत करने हेतु अनिवार्य करें। यह सब कार्य औसत रूप से समझदारी, बुद्धिमानी, दुनियादारी से करना होगा जिसे अंग्रेजी में Rule of Prudence ,or Rule of thumb भी कहते हैं। हर समस्या के लिए प्रावधान नहीं बनाए जाते हैं न संभव होता है अतः सामान्य रूप से कोई भी अधिनियम एवं उपविधियां आदि परिपूर्ण सर्वांगपूर्ण सुविस्तृत या यूं कहे निःशेष (Exhausstive) नहीं होती है अतः अंतर्भूत शक्तियां प्रत्येक न्यायालय को उपलब्ध होती है जिससे समय समय पर आनेवाली समस्याओं का निदान किया जा सके।

यह ध्यान रखने का हमारा कर्तव्य है कि निर्णय या आदेश पारित करने के पूर्व हम चौकस दृष्टि से विधि प्रावधान आदि को देखें एवं उचित आदेश पारित करें।

●

संशोधन

ज्योति ज़नरल माह जून 2001 में कुछ दृष्य त्रुटियां अक्षर संयोजन की ज्ञात हुई हैं उन्हें कृपया सुधार लें।

1- **पृष्ठ 153** में अंतिम चरण में **सचिव** के स्थान पर **रजिस्ट्रार** पढ़े।

2- **पृष्ठ 190** में प्रथम शीर्षक में **धारा 457** के स्थान पर **357** पढ़े।

3- **पृष्ठ 218** टिट् बिट क्र. 34 में **428A** के स्थान पर **498A** पढ़े

विषय :- संसद सदस्यों को बन्दी बनाना, नजरबन्द रखना आदि।

महोदय,

1- मुझे यह कहने का निर्देश हुआ है कि इस मंत्रालय ने समय–समय पर सभी राज्य सरकारों, संघ राज्य प्रशासनों को अनुदेश जारी किए हैं, जिसमें इस बात पर बल दिया गया था कि यह आवश्यक है कि जब किसी संसद सदस्य की गिरफ्तार नजरबंद किया जाए अथवा उसे रिहा किया जाए, तो ऐसे सभी मामलों की सूचना लोकसभा अध्यक्ष को तत्काल उसी रूप में, और उन सभी अपेक्षाओं की पूरी करते हुए दी जाएं, जो कि लोक सभा कार्यविधि और कार्य संचालक नियमों में निर्धारित है इन अनुदेशों के बावजूद भी अभी हाल ही में कई मामले देखने में आए हैं जिनमें राज्य के सम्बद्ध प्राधिकारियों ने निर्धारित प्रक्रिया का अनुपालन नहीं किया है। इस विषय में जारी किए गए अनुदेशों को फिर से नीचे उल्लेख किया जाता है।

2- (1) यदि किसी सदस्य को गिरफ्तार किया जाता है, नजरबंद किया जाता है, या दोष सिद्ध करार दिया जाता है, जमानत पर या जेल की अवधि पूरी होने पर या किसी अन्य कारण से रिहा किया जाता है, या नजरबंदी के स्थान से किसी दूसरे स्थान पर स्थानांतरित किया जाता है तो इसकी सूचना बंदी बनाने वाले जज, मजिस्ट्रेट या कार्यकारी प्राधिकारी द्वारा जैसा भी मामला हो जल्दी से जल्दी तार, वायरलेस संदेश, टेलीग्राम, टेलीप्रिंटर संदेश द्वारा लोक सभा अध्यक्ष को भेजी जानी चाहिए और इसके बाद लोकसभा में कार्याविधि तथा कार्य, संचालन नियमों की तीसरी अनुसूची में दिये गये प्रोफार्मा में औपचारिक लिखित सूचना भेजी जाए। यदि अध्यक्ष को यह सूचना किसी पुलिस अधिकारी द्वारा भेजी जाए तो यह पुलिस अधिकारी स्टेशन हाऊस अधिकारी के पद से नीचे का पुलिस अधिकारी नहीं होना चाहिए और उस सूचना की पुष्टि जिला पुलिस अधीक्षक द्वारा की जाना चाहिए। जब किसी लोकसभा सदस्य को किसी ऐसे कानून के अंतर्गत गिरफ्तार किया जाए और नजरबंद रखा जाए जिसमें प्रिवेंटिव डिटेन्शन की व्यवस्था हो तो संबंधित प्राधिकारियों को चाहिए कि उस सदस्य की गिरफ्तारी और नजरबंदी की सूचना अध्यक्ष को भेजें और उसके साथ साथ उसकी गिरफ्तारी और नजरबंदी का कारण तथा मूल आधारों के विस्तृत विवरण की एक प्रतिलिपि उसी समय अध्यक्ष को भेजी जाए जब वह विवरण संबंधित कानून के अंतर्गत, उस नजरबंद सदस्य को दिया जाए। पहले से ही बंदी, नजरबंद किसी सदस्य के विरूद्ध जब अतिरिक्त आरोप लगाए जाए तो इस बारे में सूचना भी लोकसभा अध्यक्ष को भेजी जानी चाहिए। इसी तरह उसे अभिरक्षा में रखने के तरीके में यदि कोई परिवर्तन किया जाए तो इसकी सूचना भी भेजना आवश्यक है।

(2) तार, बेतार संदेश, टेलीप्रिंटर संदेश द्वारा भेजी जाने वाली आरंभिक सूचना में आवश्यक ब्यौरे होने चाहिए। यानी गिरफ्तारी के मामले में गिरफ्तारी तारीख समय और स्थान संबंधित कानून के उपबंध जिन के अधीन गिरफ्तारी की गयी है, वह प्राधिकारी जिसके आदेशों पर गिरफ्तारी की गयी है वह स्थान जहां पर सदस्य को रखा गया है और सूचना भेजने वाले का नाम और पद नाम।

(3) न केवल कानून के अंतर्गत गिरफ्तारी के मामलों के बारे में ही अध्यक्ष को सूचना भेजना आवश्यक है, बल्कि उन सभी मामलों के बारे में सूचना भेजी जानी आवश्यक है जिनमें किसी सदस्य को पुलिस द्वारा कारणवश रोका जाता है, या नजरबंद किया जाता है चाहे वे मामले गिरफ्तारी शब्द के बिलकुल कानूनी अर्थ के अंतर्गत नहीं आते हों।

(4) जब कोई सदस्य न्यायालय के समक्ष आत्म समर्पण कर देता है और उसे न्यायालय की अभिरक्षा में ले लिया जाता है तो संबंधित न्यायालय द्वारा इसकी सूचना लोकसभा अध्यक्ष को भेजी जानी चाहिए।

3- लोक सभा अध्यक्ष को भेजे जाने वाले पत्र साईक्लोस्टाइल्ड फार्म में खाली स्थान भर कर बिल्कुल नहीं भेजे जाने चाहिए, बल्कि साफ साफ टाईप किए हुए होने चाहिए।

4- जब किसी संसद सदस्य को बंदी बनाया जाता है तो विशेषाधिकार के प्रश्न उठाये जाते हैं। संसद सदस्य की गिरफ्तारी नजरबंदी आदि से संबंधित सभी मामलों में संबद्ध प्राधिकारियों को यह बात सावधानीपूर्वक ध्यान में रखना चाहिए। संविधान के अनुच्छेद 105 खण्ड (3) में कहा गया है कि संसद सदस्यों के विशेषाधिकार वे होंगे जिन्हें समय समय पर संसद द्वारा कानून बनाकर परिभाषित किया जाए, जब तक उन्हें इस प्रकार परिभाषित न किया जाए तब तक ये विशेषाधिकार युनाईटेड किंगडम की संसद के हाऊस आफ कामन्स के सदस्यों को मिलने वाले विशेषाधिकार के समान होंगे। हमारी संसद ने इस विषय पर अभी तक कोई कानून नहीं बनाया है। यूनाईटेड किंगडम के संसद सदस्यों के विशेषाधिकार के बारे में मानक पुस्तक पार्लियामेन्टरी प्रेक्टिस नाम पुस्तक है।

5- संविधान के अनुच्छेद 105 की प्रतिलिपि कार्याविधि नियम 229, 230, 232, 233 की प्रतिलिपि और लोक सभा कार्याविधि की जिसकी अनुसूची की प्रतियां सुलभ संदर्भ के लिए संलग्न है।

6- राज्य सभा के सदस्यों की गिरफ्तारी, नजरबंदी आदि के मामलों के बारे में समस्त सूचना राज्य सभा के सभापति को सीधे भेजी जाए। ऊपर बताए गए लोक सभा कार्यावधि और कार्य–संचालन (जिन्हें संक्षेप में लोक सभा नियम कहा गया है) आवश्यक परिवर्तनों के साथ, राज्य सभा सदस्यों के मामले में भी लागू होंगे।

7- अनुरोध है कि उपर्युक्त अनुदेशों की पूरी तरह से अनुपालन के लिए राज्यों, संघ राज्यों के सभी संबंधित प्राधिकारियों के ध्यान में लाया जाए। यह सुनिश्चित करने के लिए कि इन अनुदेशों के अनुपालन से किसी प्रकार की भूल न होने पाये सुझाव है कि निम्नलिखित मुद्दों पर कार्यवाही की जाए:–

(क) यह सुनिश्चित किया जाए कि निर्धारित फार्म जिनके लोकसभा अध्यक्ष, सभापति राज्य सभा को सूचना भेजी जानी है की सभी फार्म सब–डिविजनल मुख्यालयों और साथ ही सभी पुलिस स्टेशनों पर उपलब्ध हों।

(ख) अनुदेशों की प्रतिलिपियां सावधानी पूर्वक गार्ड फाइलों में रखी जाएं और कार्यभार से मुक्त होने वाले अधिकारी द्वारा अपने उत्तराधिकारी को अवश्य सौंपी जाए, ताकि प्रत्येक अधिकारी जिस क्रियाविधि का अनुपालन किया जाना है उसकी पूरी पूरी जानकारी रहे।

(ग) गिरफ्तारी की सूचना तार, बेतार, टेलीप्रिंटर संदेश द्वारा भेजी जानी चाहिए और यह सूचना डाक द्वारा भी भेजी जाए चाहे गिरफ्तारी किसी भी दिन की गयी हो। जिस दिन गिरफ्तारी की गयी हो यदि वह छुट्टी का दिन हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सूचना को अगले कार्य दिवस तक रोके रखा जाए।

(घ) यदि कार्यकारी मजिस्ट्रेट के आदेशों के अधीन गिरफ्तारी की गई हो तो उसे चाहिए कि वह जिला मजिस्ट्रेट को भेजे जाने वाली अपनी रिपोर्ट में इसका स्पष्ट उल्लेख करें कि गिरफ्तारी के क्या कारण थे और कानून के किन उपबंधों के अधीन गिरफ्तारी की गयी है। इसी तरह, यदि जिला मजिस्ट्रेट के आदेशों के अधीन बंदी बनाया गया हो तो संबंधित तथ्यों को स्पष्ट उल्लेख करते हुए रिपोर्ट राज्य सरकार को प्रस्तुत की जानी चाहिए।

8- लोक सभा, राज्य सभा के अध्यक्ष, सभापति को भेजी गयी सूचना की प्रतिलिपियां गृह मंत्रालय का भी अवश्य भेजी जाए।

9- मेरा, यह भी अनुरोध है कि इस पत्र की प्रतिलिपि राज्य के उच्च न्यायालय के रजिस्ट्रार को भी भेजी जाए

ताकि वह उन जूडिशियल मजिस्ट्रेटों के मार्गदर्शन के लिए यथोचित अनुदेश जारी कर सके जिन्हें रिमान्ड देने या मुकदमा चलाने की शक्तियां प्राप्त हैं।

नोट :जो भी पत्र व्यवहार होगा वह सचिव के नाम से (माध्यम से) होगा न कि अध्यक्ष के नाम से क्यों कि प्रशासनिक अधिकारी सचिव होता है।

THIRD SCHEDULE

(See rule 229 and 230)

Form of communication regarding arrest, detention conviction or release, as the case may be of a member

Place .....

Date .....

To,

The Speaker,
Lok Sabha,
NEW DELHI.

Dear Mr. SPEAKER

I have the honour to inform you that I have found it my duty in the exercise of my powers under Section ..... of the ..... (Act) to direct that Shree ..... Member of the Lok Sabha be arrested for .....

DETAINED

(reasons for the arrest or detention, as the case may be)

Shri ..... M.P. was accordingly arrested ..... taken into custody at ..... (time) on ..... (date) and is present lodged in the ..... Jail ..... (Place)

B

I have the honour to inform you that Shri ..... Member of the Lok Sabha was tried at the ..... Court before me on a charge (On charges) of ..... (reasons for the conviction)

On ..... (date) after a trial lasting for ..... days I found him guilty of ..... and sentenced him to imprisonment for ..... (period).

(His application for leave to appeal to ..... is pending consideration)

Name of the Court

C

I have the honour to inform you that Shri ..... Member of the Lok Sabha, who was arrested/detained/convicted on ..... (date) for ..... (reasons for arrest/detention/conviction) was released on ..... (date) on ..... (grounds for release).

Yours faithfully,

(Judge, Magistrate
or executive authority)

म. प्र. विधान सभा सचिवालय, भोपाल के परिपत्र क्र. 11457/विधान/81, दि. 30 जुलाई 1981 जो विधान सभा सदस्यों के बन्दीकरण, निरोध में रखे जाने और रिहाई आदि की जानकारी के सम्बन्ध में है जिसे उच्च न्यायालय द्वारा पृष्ठांकन क्रमांक ए/9093/III-2-7/51, जबलपुर दिनांक 19 सितम्बर 81 को सभी न्यायालयों को सूचनार्थ प्रेषित किया था को त्वरित संदर्भ हेतु प्रकाशित किया जा रहा है।

विषय :- विधान सभा सदस्यों के बन्दीकरण, निरोध में रखे जाने और रिहाई आदि की जानकारी।

महोदय,

1- आदेशानुसार मुझे यह कहना है कि मध्यप्रदेश विधान सभा के प्रक्रिया तथा कार्य संचालन संबंधी नियमावली के नियम 171 व 172 की (प्रतिलिपि संलग्न) की अपेक्षानुसार मध्यप्रदेश विधान सभा के सदस्यों के बन्दीकरण, निरोध आदि और रिहा किये जाने की सूचना द्वितीय अनुसूची में दिये गये विनिहित प्रपत्र (प्रतिलिपि संलग्न) में यथास्थिति बन्दीकरण, निरोध या दोष सिद्धि के कारण तथा सदस्य के निरोध रिहाई या कारावास का स्थान दर्शाते हुए अविलम्ब अध्यक्ष, मध्यप्रदेश विधान सभा को दिए जाने की अपेक्षा की जाती है। परन्तु अनुभव यह हुआ है कि इसका परिपालन संबंधित अधिकारियों द्वारा ठीक ढंग से नहीं हो रहा था। इस दृष्टि से इस सचिवालय के अनुरोध पर गृह विभाग द्वारा पृष्ठांकन क्रमांक एफ.13-208/78/बी (1) दो दिनांक 26-9-80 तथा मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा पृष्ठांकन क्रमांक ए–9053/तीन/2-7/51 दिनांक 6-10-80 द्वारा संबंधित अधिकारियों को हिदायतें जारी की गई थी परन्तु अब भी अधिकांश प्राधिकारियों द्वारा वायरलेस संदेश या तार द्वारा उपर्युक्त सूचनायें तो यथा समय प्रेषित कर दी जाती हैं परन्तु नियमानुसार विनिहित प्रपत्र में सूचना प्रेषित नहीं की जाती हैं, जो सूचनायें विनिहित प्रपत्र में दी भी जाती हैं उनमें केवल अधिनियम की धारा का उल्लेख कर दिया जाता है मगर वह कारण नहीं दर्शाये जाते जिनकी वजह से उस धारा के अधीन विधायक को बन्दी बनाया जाता है और किन्हीं प्रकरणों में प्रपत्र के रिक्त स्थानों को ठीक से नहीं भरा जाता परिणामतः अध्यक्ष महोदय के सामने पूरा विवरण सही रूप में नहीं आ पाता।

2- अतः आदेशानुसार अनुरोध है कि आपके विभाग द्वारा अपने समस्त अधिनस्थ अधिकारियों को संलग्न विनिहित प्रपत्र की प्रतिलिपि इसी रूप में मुद्रित कराकर अग्रेषित कर पुनः समुचित निर्देश दिये जायें कि वे विधान सभा सदस्यों के बन्दीकरण, निरोध और रिहाई की सूचनायें अध्यक्ष महोदय, को तत्काल वायरलेस अथवा तार से तो दिया ही करें परन्तु उसके यथाशीघ्र बाद में विनिहित प्रपत्र में सूचना अवश्यमेव दिया करें तथा उसमें उन कारणों का भी उल्लेख किया जाया करें जिनकी वजह से बन्दीकरण या निरोध किया जाता है। अधीनस्थ अधिकारियों को यह भी निर्देश देने का कष्ट करें कि पूरी जानकारी समुचित रीति में प्रपत्र में भरकर ही दिया करें।

3- इसके अतिरिक्त यह भी अपेक्षा की जाती है कि प्रपत्र में जिस स्थान पर "उसे" उल्लिखित है उसके स्थान पर "उन्हें" लिखना उपयुक्त होगा।

4- यह भी अनुरोध है कि इस संबंध में जो निर्देश जारी किये जायें उसकी एक प्रतिलिपि इस सचिवालय को अध्यक्ष महोदय, के अवलोकनार्थ प्रेषित करने की कृपा करें।

नोट- **जो भी पत्र व्यवहार करना होता है वह सचिव के नाम से (माध्यम से) होगा न कि अध्यक्ष के नाम से। प्रशासनिक अधिकारी सचिव होता है।**

(ख) सदस्य के बंदीकरण, निरोध आदि ओर रिहाई की अध्यक्ष को सूचना

दण्डाधिकारी द्वारा सदस्य के बंदीकरण निरोध आदि की अध्यक्ष को सूचना।

171. जब कोई सदस्य किसी दण्ड–दोषारोप पर या किसी दंड अपराध के लिये बन्दी किया जाये या उसे किसी न्यायालय द्वारा कारावास का दण्डादेश दिया जाये कि किसी कार्यपालिका आदेश के अधीन निरुद्ध किया जाये तो यथा स्थिति सम्पर्क न्यायालय या दण्डाधिकारी या कार्यपालिका प्राधिकारी तुरन्त ऐसे तथ्य की सूचना द्वितीय अनुसूची में दिये गये समुचित प्रपत्र में, यथा स्थिति, बंदीकरण, निरोध या दोषसिद्धी के कारण तथा सदस्य के निरोध या कारावास का स्थान भी दर्शाते हुए अध्यक्ष को देगा।

सदस्य की रिहाई पर अध्यक्ष को सूचना।

172. जब कोई सदस्य बन्दी किया जाये और दोषसिद्धी के बाद अपील लंबित होने तक जमानत पर रिहा किया जाय या अन्यथा रिहा किया जाये तो ऐसे तथ्य की सूचना भी संबंधित प्राधिकारी द्वारा अनुसूची में दिये गये समुचित प्रपत्र में अध्यक्ष को दी जायेगी।

दण्डाधिकारी से प्राप्त सूचना पर कार्यवाही

173. नियम 171 या नियम 172 में निर्दिष्ट सूचना प्राप्त होने के बाद यथासंभव शीघ्र अध्यक्ष, (उसे सभा में पढ़कर सुनायेगा यदि वह सत्र में हो, या यदि सभा सत्र में न हो तो निदेश देगा कि वह सदस्यों की जानकारी के लिए पत्रक में प्रकाशित कर दी जाय)

परन्तु यदि किसी सदस्य की जमानत पर रिहाई या अपील पर मुक्ति की सूचना सभा की मूल बन्दीकरण की सूचना दी जाने से पहले ही प्राप्त हो जाय, तो उसके बन्दीकरण या उसकी बाद में रिहाई या मुक्ति का तथ्य अध्यक्ष चाहे, तो सभा को सूचित न करे।

(ख) सभा में परिसर में वैध आदेश के निर्वहन और बन्दीकरण के बारे में प्रक्रिया

सभा के परिसर में बन्दीकरण

174. सभा के परिसर में अध्यक्ष की अनुज्ञा प्राप्त किये बिना कोई बन्दीकरण नहीं किया जायेगा।

वैध आदेश का निर्वहन

175. सभा के परिसर में, अध्यक्ष की अनुज्ञा प्राप्त किये बिना किसी व्यवहारिक अथवा आपराधिक वैध आदेश का निर्वहन नहीं किया जायेगा।

द्वितीय अनुसूची

(देखिये नियम 171 और 172)

मध्यप्रदेश विधान सभा के किसी सदस्य के यथास्थिति, बंदीकरण, निरोध, दोषसिद्धियां या रिहाई के बारे में सूचना का प्रपत्र

स्थान .....

दिनांक .....

सेवा में,

अध्यक्ष महोदय,

मध्यप्रदेश विधान सभा, भोपाल.

"क"

मुझे आपको यह सूचना देनी है कि ..... (अधिनियम) की धारा ..... के अधीन अपनी शक्तियों के प्रयोग में मैंने यह निदेश देना अपना कर्तव्य समझा है कि मध्यप्रदेश विधान सभा के सदस्य, श्री ..... को ..... (यथास्थिति, बंदीकरण या निरोध के कारण) बंदी/निरूद्ध कर लिया जाये.

तदनुसार मध्यप्रदेश विधान सभा के सदस्य, श्री ..... (तिथि) ..... को ..... पर (समय) बन्दी कर लिया गया है/हवालात में रख दिया गया है। और उसे इस समय ..... जेल ..... (स्थान) में रखा गया है

"ख"

मुझे आपको यह सूचना देनी है कि मध्यप्रदेश विधान सभा के सदस्य, श्री ..... पर ..... (दोष सिद्धि के कारण) के दोषारोपण (या दोषारोपों) के लिये ..... न्यायालय में मेरे सामने मुकदमा चलाया गया.

..... दिन तक मुकदमा चलने के बाद ..... (तिथि) को मैंने उसे ..... का अपराधी पाया और उसे ..... (कालावधि) के कारावास का दण्डादेश दिया.

(..... ★को अपील करने की अनुमति के लिये उसका प्रार्थना–पत्र विचारार्थ लंबित है)

★ न्यायालय का नाम .....

"ग"

मुझे आपको यह सूचना देनी है कि मध्यप्रदेश विधान सभा के सदस्य, श्री ..... को जिसे ..... (तिथि) को सिद्धदोष ठहराया गया था और ..... के लिये (दोषसिद्धि के कारण) ..... (कालावधि) को कारावास दिया गया था ..... (तिथि) को अपील लंबित होने तक जमानत पर रिहा कर दिया गया था (या, यथास्थिति, अपील पर दंडादेश रद्द होने पर रिहा कर दिया गया.)

भवदीय,

(न्यायाधीश, दंडाधिकारी या
कार्यपालिका प्राधिकारी)

म.प्र. उच्च न्यायालय द्वारा निर्गमित परिपत्र क्र. 9340/III/1-5/51 दि. 07-8-1959 नीचे प्रकाशित किया जा रहा है जो कि विधायिका के अधिपत्य के विलेखों को आहूत करने के विषय में है देखें म.प्र. सिविल कोर्ट रूल्स एंड ऑर्डर, नियम 107

नियम 107- When any public document or a document in public custody has been produced in Court in compliance with a summons, and the officer from whose custody it has been produced desires its prompt return, the Court shall, after the document has been inspected or put in evidence, as the case may be, cause it to be returned with the least practicable delay to such officer, after the preparation of such copy as the Court may require under Order XIII, rule 5(2), unless its detention is considered to be necessary till the delivery of the judgment. The cost of preparing such a copy shall be borne by the party adducing the particular document as evidence.

The High Court vide Memo No. 9340/III-1-5/51, dated 7-8-59 prescribed that the documents in custody of Parliament or State Legislature when required in evidence, a memo be addressed in the following form :

FORM

From :-

To,

The Speaker of the House of the People/The Chairman of the council of States, Parliament House, New Delhi/Speaker Vidhan Sabha, Bhopal.

Dated the .....

Sub : (Description of the case)

Sir,

In the above proceeding, the plaintiff/defendant/complaint/accused proposes to rely upon the documents, specified in the annexure, which are in the custody of the House of the People/The Council of states/Legislative Assembly. I have to request you to move the House, if you have no objection, to grant leave for the droduction of documents in my court and, if such leave is granted, to arrange to send the documents/certified copies of the documents so as to reach me on or before ..... by registered post (A.D.) or through an officer in the Secretariat of the House.

In the above proceeding, the plaint/defendant/complainant/accused proposes to examine ..... an officer in the Secretariat of the House of People/The council so States/Legislative Assembly/ Legislative Council (or any duly informed officer in the Secretariat of the House) as a witness in regards to matters specified in the Annexure. I have to request you to move the House, where oral evidence of an officer in the Secretariat of the House is required, if you have no objection to grant leave for the examination of the said officer in my court, and, if such leave is granted, to direct the officer to appear in my court at 11A.M. on .....

Yours faithfully

विधायिका के सदस्यों को समन्स भेजने की प्रक्रिया विषयक नियम 80 सिविल कोर्ट रूल्स एंड ऑर्डर को भी अवश्य देखें

F-1. SERVICE ON MEMBERS OF PARLIAMENT AND STATE LEGISLATURES

80. (1) Article 105 (3) of the Constitution of India provides the same privileges for Members of Parliament in India as are enjoyed by the Members of the British Parliament. One of the privileges is that no service of summons can be effected upon the Members when they are within the precincts of the Parliament. The Courts should not, therefore, attempt to serve summons through the Presiding Officers or through the Parliament Secretariat. The appropriate procedure would be for the summons to be served direct on the members concerned outside the precincts of the Parliament, i.e., at their residence or at some other place.

(2) The procedure laid down in sub-rule (1) should be followed for effecting service of summons upon Members of the State Legislatures, who enjoy the same privilege under Article 194 (3) and Article 238 of the Constitution.

●

Copy of the letter No. D.O. No. 26(2) 2000 Coord Received from Joint Secretary, National Human Rights Commission, Sardar Patel Bhawan, Sansad Marge, New Delhi-110 001 is being published for general information. The Judges may purchase the said bood. This institution has found the book useful for Judges.

1. You are aware that one of the tasks of the National Human Rights Commission is to spread human rights education and also to sensitize all public servants who are intimately connected with the task of upholding the human rights of the citizenry. As part of this effort, the Commission was instrumental in organising a training programme that was undertaken by the National Law School of India University, Bangalore for the District Judges of the States of Andhra Pradesh and Karnataka. The training material prepared for that training, modified suitably with inputs obtained from the trainee, has since been published as a **handbook on Human Rights for Judges.** The Commission is of the view that copies of Hand Book on Human Rights for Judicial Officers may also be sent to the State Judicial Officers' Training Institute for reference purposes.

2. I am requesting the Director, NLSIU through a separate letter to send one copy of the Hand Book on complimentary basis to your Institute. If your Institute requires more number of copies for distribution to the trainees participating in different training programmes the order can be placed on the coordinator, **National Institute of Human Rights, National Law School of India University, Nagarbhavi, Bangalore-560072 (Tele No.3211303, Fax No. 3217858).** The publication is priced at Rs. 220/- which is intended only to cover the cost of printing plus handiling and forwarding charges and has no element of profit. Demand Draft could be sent in the name of "Registrar, National Law School of India University" payable at Bangalore.

●

TIT-BITS

1. ADVOCATES ACT, SECTION 35 : PROFESSIONAL MISCONDUCT : NATURE OF THE CHARGE OF, AND MANNER AND NATURE OF PROOF :-
(2000) 6 SCC 721
H.V. PANCHAKSHARAPPA Vs. E.G. ESHWAR

Since it is a quasi criminal charge hence must be proved beyond doubt in the manner or proving a criminal charge.

Improper Conduct :- Improper conduct not amounting to professional misconduct. What is. Concealment of information from plaintiff client about his having conducted a suit on behalf of the defendant. Advocate filing a suit on behalf of Siddaramma Shetty for partition of suit property and obtaining injunction against defendants therein. Subsequently, the same advocate filing a suit for another person, who was not a party to the said former suit, against Siddaramma Shetty for recovery of a certain amount and getting the said property attached. However, the advocate not disclosing to the said other person about his having been engaged by Siddaramma Shetty in former suit. Withholding of the said information, although not a professional misconduct, held, did not speak well of the conduct of the said advocate. He should have, according to best traditions of the Bar, disclosed the said fact to his subsequent client.

●

2. ADMINISTRATIVE LAW : PUBLIC RIGHTS Vs. INDIVIDUAL RIGHTS
(2000) 7 SCC 425
CONSUMER ACTION GROUP Vs. STATE OF TAMILNADU AND OTHER CASE

Invidual rights, including fundamental rights to the extent they affect public rights leading to public inconvenience, have to be curtailed.

DELEGATION OF POWERS :- There is no exclusive delegation of powers. Power to grant exemption conferred by the Act on Government, though wide, is controlled through legislative policy which can be gathered from the Preamble, Objects and Reasons and relevant provisions of the Act and the Development Control Rules.

ARBITRARINESS :- Statutory provisions conferring wide powers on an authority not ultravires if legislative policy can be gathered from Preamble, Statement of Objects and Reasons and relevant provisions of the Act and the Rules.

●

3. CIVIL APPEAL : (GENERALLY) SCOPE OF
2000 (2) JLJ 373
LAXMAN PRASAD Vs. BALWANT SINGH

High Court while exercising th jurisdiction in a particular forum declining to grant relief. No other view can be taken while exercising jurisdiction in another forum. ***Shankar Ram Vs. Krishnaji, AIR 1970 SC 1*** followed.

The relevant portion in paragraph 14 is reproduced :

In its decision in the case of ***Shankar Ram Chandra Abhyankar Vs. Krishnaji Dattatraya Bapat, reported in AIR 1970 SC 1,*** the Apex Court had observed as follows :

"The right of appeal is one of entering a superior Court and invoking its aid and

interpostition to redress the error of the Court below. Two things which are required to constitute appellate jurisdiction are the existence of the relation of superior and inferior Court and the power on the part of the former to review decisions of the latter. When the aid of the High Court is invoked on the revisional side, it is done because it is a superior Court and it can interfere for the purpose of rectifying the error of the Court below. Section 115 of the Code of Civil Procedure circumscribes the limits of the jurisdiction but the jurisdiction which is being exercised is a part of the general appellate jurisdiction of the Hight Court as a Superior Court. It is only are of the modes of exercising power conferred by the Statute; basically and fundamentally it is the appellate jurisdiction of the High Court which is being invoked and exercised in a wider, and larger sense."

C.P.C., SECTION 47 : DUTIES OF THE EXECUTING COURT :-

Executing Court cannot go behind the decree. It has to execute the same if there is no lack of inherent jurisdiction.

NOTE :- Which Court can execute the decree. Please go through Section 47 CPC.

●

4. CONSUMER PROTECTION ACT, SECTIONS 9, 11 (i) 13, 14 (1) (d), 17 (1), 18, AND 22 : COMPENSATION : MODE OF CALCULATION : STATUS OF PERSON HOW FAR RELEVANT :-

(2000) 7 SCC 668

CHARAN SINGH Vs. HEALING TOUCH HOSPITAL AND OTHERS

Consumer Disputes Redressal Agencies (from district Forum to National Commission) should dispose of complaints expeditiously.

Keeping complaints pending for years would defeat the object of the Act.

BENEVOLENT RESOLUTION :- It is a benevolent piece of resolution intended to protect a large body of consumers from exploitation.

POWERS OF THE AGENCIES :- Their powers are quasi judicial and they should record reasons however brief for their conclusions. The necessity for giving reasons is explained by the Supreme Court. It is implicit in exercise of quasi judicial powers.

QUANTIFICATION OF COMPENSATION :- It would depend on facts and circumstances of each case and no hard and fast rules of quantification can be laid down for universal application.

The Redressal Agencies should take into account all relevant factors and assess the compensation on the basis of legal principles, on moderation. The complaint was that due to negligence of the doctors his right side got paralysed and had illegally removed his kidneys and he also lost his job besides incurring huge amounts of money for treatment and his up keep claimed compensation of 34 lakhs. It was held that in deciding the amount of compensation the Redressal Agencies should drag into consideration the alleged harm, mental pain, agony, physical discomfort, loss of emoluments suffered by him but also the conduct of the respondents required to be taken into account to qualify the compensation. Merely because the applicant was drawing a salary of Rs. 3000+Allowances, it cannot be said that the amount claimed was exaggerated or unrealistic or excess.

Opportunity ought to have been given to substantiate his case.

The concerned paragraphs from para 6 to 18 are reproduced here :

6. We have heard learned counsel for the parties.

7. The impugned order of the National Consumer Forum is very brief. While dismissing the complaint and relegating the appellant to approach either the District Forum or the State Commission, the National Consumer Forum inter alia observed :

> "... The complainant was drawing a salary of Rs. 3000 plus allowances. This is his allegation which is not admitted by the opposite party. ***Even if we accept this contention is correct and even if we accept that as a result of wrong treament given in the Hospital he has suffered permanent disability, the claim of Rs. 34 lakhs made by the complainant is excessive.*** We are of the view that this exaggerated claim has been made only for the purpose of invoking the jurisdiction of this Commission ... "

8. The National Consumer Forum, in our opinion, was not fair in disposing of the complaint of the appellant by styling his claim as "excessive" or "exaggerated" after six years of the pendency of the complaint, and asking the appellant to move the State Commission or the District Forum by making "a realistic claim". Whehter the claim of the appellant was "realistic", "exaggerated" or "excessive", could only have been determined after the appellant had been given an opportunity to prove the case he had set up and established his claim under various heads. It was not fair to call his claim "unrealistic", "exaggerated" or "excessive" without giving the appellant an opportunity to substantiate his case.

9. Ms Indira Jaising, learned amicus, submitted that according to the appellant he had suffered paralysis on the right side and had also become permanently disabled and his one kidney had been illegally removed. The appellant had on that account suffered pain and suffering. He had also undergone heavy expenditure for his operations, upkeep, tests, medicines, etc. He had lost his job. Learned counsel submitted that the appellant should have been given an opportunity to substantiate his claim and the National Consumer Forum was not justified to observe that the claim put forward by the appellant was "unrealistic", "exaggerated" or "excessive" after referring to the salary of the appellant only. According to Ms Jaising, the National Consumer Forum, was not right in scuttling an inquiry into the claim of the appellant, in limine after keeping him waiting for six long years. According to her. the impugned order violates the spirit with which the Consumer Protection Act was enacted. Learned counsel for the respondents, however, submitted that the claim of the appellant was "exaggerated" and "excessive" and the Forum rightly rejected it, without giving any finding on merits so as not to prejudice the case of the appellant before the District Forum or the State Commission.

10. After hearing learned counsel for the parties and perusing the record, we are constrained to say that we are not happy with the manner in which the complaint of the appellant has been disposed of.

11. The Consumer Protection Act is one of the benevolent pieces of legistation intended to protect a large body of consumers from exploitation. The Act provides for an alter-

native system of consumer justice by summary trial. The authorities under the Act exercise quasi-judicial powers for redressal of consumer disputes and it is one of the postulates of such a body that it should arrive at a conclusion based on reason. The necessity to provide reasons. howsoever, brief in support of its conclusion by such a forum, is too obvious to be reiterated and needs no emphasising. Obligation to give reasons not only introduces of arbitrariness and the higher forum can test the correceness of those reasons. Unfortunately we have not been able to find from the impugned order any reasons in support of the conclusion that the claim of the appellant is "unrealistic" or "exaggerated" or "excessive". Loss of salary is not the sole factor which was required to be taken into consideration.

12. While quantifying damages, Consumer Forums are required to make an attempt to serve the ends of justice so that compensation is awarded, in an established case, which not only serves the purpose of recompensing the individual, but which also at the same time, aims to bring about a qualitative change in the attitude of the service provider. Indeed, calculation of damages depends on the facts and circumstances of each case. No hard and fast rule can be laid down for universal application. While awarding compensation, a Consumer Forum has to take into account all relevant factors and assess compensation on the basis of accepted legal principles, on moderation. It is for the consumer forum to grant compensation to the extent it finds it reasonable, fair and proper in the facts and circumstances of a given case according to the established judicial standards where the claimant is able to establish his charge.

13. It is not merely the alleged harm or mental pain, agony or physical discomfort, loss of salary and emoluments etc. suffered by the appellant which is in issue it is also the quality of conduct committed by the respondents upon which attention is required to be founded in a case of proven negligence.

14. It must be remembered that the National Consumer Forum has jurisdiction, without pecuniary limitations, to award proper compensation, even less than the one claimed in a given case, depending upon the established facts and circumstances of that particular case and the evidence led by the parties. The District Forum and the State Commission on the other hand, have pecuniary jurisdictional limitations for granting compensation beyond their jurisdictional limits. Under Section 11 (1) of the Consumer Protection Act, 1986, the District Forum has jurisdiction to entertain complaints where the value of the goods or services and compensation, if any, claimed does not exceed Rs 5 lakhs. Section 17 (a) of the Act provides that the State Commission shall have jurisdiction to entertain complaints where the value of goods or services and compensation, if any, claimed exceeds Rs 5 lakhs, but does not exceed Rs 20 lakhs. In view of these jurisdictional limitations of the District Forum and the State Commission these bodies would nor be able to award compensation, even if satisfied in a given case that the complainant was entitled to more compensation than what he had claimed, beyond their pecuniary jurisdiction.

15. That apart, in the present case, the complaint petition filed by the appellant for compensation was pending before the National Consumer Forum for six long years. The pleadings had been completed. The National Consumer Forum should have taken the complaint to its logical conclusion by asking the parties to adduce evidence and rendered its findings on merits. A mathematical calculation based only on the amount

of salary being drawn by the appellant could not be the sole factor to be taken into consideration to style the claim of the appellant "unrealistic" or "exaggerated" or "excessive". The appellant has virtually been condemned unheard after waiting for six long years. The legislative intent, for enacting the legislation. of a speedy summary trial, to settle the claim of the complainant (consumers) has been respected in its breach. The spirit of the benevolent legislation has been oberlooked and its object frustrated by non-suiting the appellant in the manner in which it has been done by the National Consumer Forum. The Consumer Forums must take expeditious steps to deal with the complaints filed before them and not keep them pending for years. It would defeat the object of the Act. if summary trials are not disposed of expeditiously by the forums at the District, State or National levels. Steps in this direction are required to be taken in the right earnest.

16. We, therefore, accept this appeal, set aside the impugned order of the National Consumer Forum and remand the complaint filed by the appellant to the National Consumer Forum for its disposal in accordance with law.

17. We clarify that what we have said above shall not be construed as any expression of opinion on the merits of the case, or the rights of the parties. The complaint shall be decided on its own merits in accordance with law.

18. We request the National Consumer Forum to dispose of the complaint of the appellant expeditiously.

●

5. CONSTITUTION OF INDIA, ARTICLE 32 AND 214 : BENCHES OF HIGH COURT IN OTHER DISTRICTS OF THE STATE- DEMAND BY BAR ASSOCIATIONS :- MAINTAINABILITY OF WRIT PETITION :-
(2000) 6 SCC 715
FEDERATION OF BAR ASSOCIATIONS IN KARNATAKA Vs. UNION OF INDIA

Writ petition cannot be maintained if there is no infringement of any Fundamental Right. Petitioner, the Federation of Bar Associations in Karnataka in an accredited representative of litigants of Karnataka, seeking writ of mandamus to Union of India for establishing a Bench of High Court at a suitable place in northern Karnataka apart from its principal seat at Bangalore, Whether a Bench outside the principal seat of the High Court should be established or not opinion of Chief Justice of High Court regarding, is of prime importance. He has to form his opinion after considering the views of colleague Judges. Plea of distance for the litigants not decisive. Burden on the exchequer and functional efficiency of the High Court cannot be ignored. Precedent of Benches in other High Courts also not decisive.

●

6. CONSTITUTION OF INDIA, ART. 226 : COMPLAINT BY GIRL'S FATHER WHO IS MAJOR REGARDING HARASSMENT : DEPRECATED :-
2000 (3) M.P.L.J. 436
SHAILENDRA VIRENDRA VISHWAKARMA Vs. STATE OF M.P.

The complaint of harassment by the police on report of the father of major daughter who got married as per Arya Samaj rites. Parental obligation should not override mandate of the law.

Marriage according to Arya Samaj rites was performed. Husband and wife are major. Interference by police on report of the father of the girl is depricated.

Paragraph 4 of the judgment is reproduced :

It has been said 'all is well that ends well' but it should not be forgotten things must end well, and well, well in time. As the timely cure is much better than a prolonged unnecessary treatment, it is to be borne in mind any type of treatment is a harassment. The Investigating Officer in the present case should have put an end to the controversy in quite promptitude so that young couple along with their family members should not have been compelled to visit this Court and the Investigating Officer must remember that dispensation of justice has to be done at the earliest so that no citizen shall harbour a grievance. It would not have taken much time on his part that the petitioners Nos. 1 and 2 are major and they were married according to the acceptable religious rites. In future the Investigating Officer in the matter of this kind should act promptly in accordance with law of the land and should not be governed by any kind of pressure or passion. One's notion of relationship and one's proclivity towards parental obligation should not override the mandate of law. A major is free in free India as per our Constitution or the law made in accordance with the Constitution and it should be adhered to by all. I am sure that this will act as a future guidance to the Investigating Officer so that a major married couple do not rush to Court making allegations of harassment by the police because of the adamantine attitude of parents. In this context I may profitably quote a paragraph from "Lawbreakers, Courts and Law-Abiders" by Roger Traynor J:-

> "The great advantage of police compliance with the law is that it helps create an atmosphere conducive to a community respect for officers of the law that in turn serves to promote their enforcement of law. Once they set an example of lawful conduct they are in a position to set up lines of communication with the Community and to gain its support."

●

7. C.P.C., O. 1 R. 10 (2) AND O. 22 R. 4 : DEATH OF DEFENDANT PRIOR TO THE INSTITUTION OF THE SUIT : APPLICABILITY OF :-
2000 (3) M.P.L.J. 412
SMT. AGARWAL Vs. ARYA VIDHYA SABHA

Suit against more than one defendant was instituted. One of the defendants was dead prior to the institution of the suits. Provisions of O. 1 R. 10 CPC can be made applicable.

The provision of O. 22 R. 4 come to play when the death of the defendant occurs in pending suit and this rule will not apply where such death had occurred before the institution of the suit.

●

8. C.P.C., O. 33 R. 1 : RELEVANCY OF SUBJECT MATTER OF SUIT WHILE CONSIDERING WHETHER APPLICANT WAS INDIGENT :-
2000 (3) M.P.L.J. 443
GOVERDHANDAS Vs. SHYAMLAL

Subject matter of the suit whether it should be excluded or not is a matter for consideration of the Court. Income from the said property cannot be excluded.

It is not that the subject matter of the suit must always be excluded while determining whether the applicant is indigent or not. Whether it should or not be excluded is the matter for consideration of the Court. The income from the property by way of rent. etc. cannot be excluded at all.

Note :- Judicial Officers are requested to go through the Ruling of ***1981 CCLJ Note No. 102, Gopal Vs. Gordhanlal,*** which has been reported in 1997 Joti Journal Part. 1 at page 26, Tit Bit No. 18, It is again reproduced here for ready reference :

"The trial court held that the appellant failed to prove that he was not possessed of means to pay the court fee and dismissed the application. Aggrieved by the order passed by the trial Court the plaintiff has preferred this appeal.

The High Court held that the Trial Court has rejected the prayer of the plaintiff mainly on the ground that apart from these five shops there are five other shops in which the plaintiff also has his share and that the plaintiff has also a share in another house. However, it is not the case of respondents that the plaintiff is in possession of any **realisable assets.** The other shops and the house are in possession of the plaintiff's father. Apart from the house and the other shops it is not shown that the plaintiff is possessed of any other means to pay the court fee. The house and the shops cannot be held to be **realisable assets.** Appeal allowed."

●

9. C.P.C. O. 47 R. 1 r/w ART. 137 : CONSTITUTION OF INDIA AND SUPREME COURT RULES, 1966, O. XL Rr. 3 AND 5 :- REVIEW :-
(2000) 7 SCC 296
DELHI ADMINISTRATION Vs. GURUDIP SINGH UBAN

Indiscriminate filing of review petitions, held, results in wasting time of Court. Greater care, seriousness and restraint must be exercised before filing such petitions.

Application for review to be disposed of by circulation without any oral arguments; second review not allowed. Applications filed for "classification", "modification" or "recall" of orders of the Supreme Court which are in substance review applications, held, deserve to be rejected straight away because the attempt made through them is obviously to bypass Or. XL R. 3. What cannot be done directly cannot be permitted to be done indirectly. The position would be the same where such applications are filed after the rejection of a review application. A second review is not maintainable under Or. XL R. 5. Further it was held that however, that it should not be inferred that application for "classification" "modification" or "recall" would never be maintainable after first disposal of the matter. On facts, matters dealt with on merits in order to give a quietus to the issues involved (challenges to land acquisition proceedings). However, where application for "recall" had been filed while a review application was pending, Supreme Court rejected request by counsel to hand over fresh documents.

There is a real distinction between a merely "erroneous" decision and a decision which can be characterised as vitiated by "error apparent".

NOTE:- Judicial Officers are requested to go through paragraphs 14 to 24 of the judgment.

JUSTICE :- Subjective and personalised justice would lead to nowhere. Paragraph 24 of the judgment is reproduced :

While the man who succeeds may think justice is on his side, the man who loses is prone to think that injustice has been done to him. Most litigants who have not won, presume that injustice has been unreasonably inflicted upon them. This approach is subjective and personalised. Therefore, this appeal by Shri Shanti Bhushan for "justice" can take us nowhere. The State and DDA which are on the other side are impersonal bodies and if they are exercising statutory powers for public good and acquiring land for public purposes, the Court has to balance the rights of parties and this has to be done within the four corners of the law. We are not lay courts meting our justice according to our whims and fancies but are governed by law as well as by binding precedent.

JUDICIAL PROCESS :- Kind of changes in statutory law of which judicial notices must be taken out. Mandate also flows out from purposive constructive rule.

NOTE :- Where the earlier suit is only for injunction and no question of title has gone into and order passed, the Supreme Court in the present case held that the earlier suit could not be binding on the question of title. Therefore, if in the subsequent suit the enquiry and investigation is limited to declaration of title also, then a suit for injunction simplicitor though instituted previously can be stayed and subsequent suit for declaration and injunction may conveniently be tried.

●

10. C.P.C., O. 41 Rr. 3-A (1) AND 3 (1) : FILING OF APPEAL BEYOND A TIME PRESCRIBED : PROCEDURE TO BE FOLLOWED UNDER R. 3A : OBJECT EXPLAINED
(2000) 7 SCC 372
STATE OF M.P. Vs. PRADEEP KUMAR

The object is two fold. First to inform appellant that time barred appeal would not be entertained without an accompanying application explaining the delay. Secondly to indicate that the application for condonation has to be dealt with as a condition precedent and that therefore the respondent may not have to get ready to meet the grounds of appeal. Law aids the vigilant not those who sleep over their rights. Filing of memorandum of appeal without application for condonation of delay, consequences are not fatal.

The word "shall" used in Rule 3-A does not foreclose the chance to ractify a mistake. Court is within jurisdiction in returning the memorandum of appeal to the party concerned as defective. Such party can then cure the defect and present the appeal again.

●

11. C.P.C., O. 20 R. 5 : CIVIL PRACTICE : MAKING OF DISPARAGING REMARKS AGAINST THE STATE AND POLICE DEPARTMENT ON MATTERS BEYOND THE SCOPE OF THE CASE : IMPROPER :-
(2000) 7 SCC 333
STATE OF KARNATAKA Vs. REGISTRAR GENERAL, HIGH COURT OF KARNATAKA

While referring O. 20 R. 5 of C.P.C. it was held that the judicial propriety in passing adverse remarks decided the scope of the case improper. High Court while rejecting the State's petition for leave to appeal against acquittal in a case under S. 307 IPC, requiring the Home Secretary and Home Minister to express their reaction to the adverse remarks

of High Court against poor investigation and insincere conduct of prosecution which resulted in acquittal in cases of murder, atrocities against women, harassment of young married women including bride-burning and molestation of women and rape. Said matters, it was held that were not germane to, and beyond the scope of the case. Hence, such remarks were uncalled for. Therefore, the direction issued by High Court to the Secretary (Home) and Home Minister, set aside. Under Section 354 Cr.P.C., observations and directions made outside the scope of the case is legal. Under judicial process making of remarks or passing directions outside scope of the case.

●

12. C.P.C., SECTION 11 : RES JUDICATA :-
(2000) 7 SCC 543
GRAM PANCHAYAT Vs. UJAGAR SINGH

Where the earlier suit was for injunction only and no question of title was gone into or decided, it was held that on facts the earlier suit could not be binding on the question of title.

NOTE:- Judicial Officers are requested to go through the provisions of Section 10 also relating to stay of suit. The law stated above is equally applicable in cases under Section 10 of CPC. It is not mandatory to stay the subsequent suit institute the court has to see the scope and the subject-matter of the case. For example if the first suit is only for an injunction and the subsequent suit is for declaration and injunction, in such case though under Section 10 of the CPC, the law requires that subsequent suit should be stayed but the circumstance does not require that subsequent suit should be stayed and on the contrary the previously instituted suit should be stayed. Such powers can be exercised under Section 151 of the CPC. The principle is whether the final decision in the previous decision would operate as Res judicata in the subsequent suit. Section 10 applies where the decision in the previous suit will definitely affect the decision in the later suit. Where Section 10 does not strictly apply for the sake of justice suit may stay under Section 151 of the CPC.

Where the earlier suit is only for injunction and no question of title has gone into and the order decided. The High Court in the present case held that the earlier suit could not be binding on the question of title. Therefore, if in the subsequent suit the enquiry and investigation is limited to declaration of title also it is a suit for injunction simplicitor though instituted previously can be stayed and subsequent suit for declaration and injunction may conveniently be tried.

●

13. CRIMINAL TRIAL : CIVILISATION AND REALITIES
2000 (2) JLJ 327
BAIJANTI BAI Vs. STATE

The criminal trial cannot be equated with the mock scene from a stunt film. Legal trial is conducted to ascertain guilt or innocence of accused.

Paragraph 19 of the judgement is reproduced :-

Hon'ble the Supreme Court in its recent decision in case of ***State of H.P. Vs. Lekh Raj (2000) 1 SCC 247,*** has expressed view that the criminal trial cannot be equated with a mock scene from a stunt film.The legal trial is conducted to ascertain the guilt or inno-

cence of the accused arrigned. In arriving at a conclusion about the truth, the Courts are required to adopt a rational approach and judge the evidence by its intrinsic worth and the animus of the witnesses.

The hypertechnicalities or figment of imagination should not be allowed to divest the Court of its responsibility of shifting and weighing the evidence to arrive at the conclusion regarding the existence or otherwise of a particular circumstance keeping in view the peculiar facts of each case.The social position of the victim and the accused, the larger interests of the society particularly the law and order problem and degrading values of life inherent in the prevalent system. The realities of life have to be kept in mind while appreciating the evidence for arriving at the truth. The Courts are not obliged to make efforts either to give latitude to the prosecution or loosely construe the law in favour of the accused. The traditional dogmatic hypertechnical approach has to be replaced by a rational, realistic and genuine approach for administering justice in a criminal trial.Criminal jurisprudence cannot be considered to be a utopian thought but have to be considered as part and parcel of the human civilization and the realities of life.

●

14. Cr.P.C., SECTION 374 (3) :-
(2000) 7 SCC 388
CRANEX LTD. Vs. NAGARJUNA FINANCE LTD.

Subsequent events taking place during pendency of the appeal. On facts it was held that such facts are to be taken into account by the appellate Court while disposing of the appeal.

N.I. ACT, SECTION 138 : COMPROMISE :-

Settlement between parties during pendency of appeal in Sessions Court against conviction and sentence of imprisonment and fine under Section 138 of N.I.,Act. Pursuant to such settlement the convicted party deposing the cheque amount with the trial Court. In such circumstance Supreme Court directing the Sessions Court to take the said evidence into account and pass such order as it may deem fit in the appeal. Moreover, in view of the complainant- respondent's statement before Supreme Court that if permitted to withdraw the said amount he would not press before the Sessions Court for conviction or sentence, Supreme Court permitting him to withdraw the said amount and directing the Sessions Court to consider whether in such circumstances, conviction was to be maintained or an order imposing fine was to be passed.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the Article in 'JOTI JOURNAL' 2000 (5) 565 and in particular judgment of ***M. Mohanreddy Vs. Jai Raj,*** **1996 Cr.L.J. 1010.** In this case also the Supreme Court did not permit compromise. Again, the Supreme Court though permitted compromise in ***O.P. Dolhia Vs. State of Haryana,*** **(2000) 1 SCC 762** but it was not under Section 320 (2) of the Cr.P.C. but the inherent powers of the Supreme Court under Article 142 of the Constitution of India.

●

15. Cr.P.C., SECTION 386 (b) : APPEAL FROM CONVICTION :-
2000 (3) M.P.L.J. 384
KALLOO KHAN Vs. STATE

Appellate Court has no power to enhance sentence passed by trial Court in absence of appeal by State for enhancement of sentence. Provision of Section 377 (1) discussed.

●

16. Cr.P.C. SECTIONS 438 AND 439 : MANDATE REGARDING DISPOSAL OF APPLICATION :-
2000 (3) M.P.L.J. 417
MAHESH CHANDRA Vs. STATE

Anticipatory bail was rejected. Application for bail under S. 439 is directed to be placed before the Judge according to roster. It is not required to be placed before the Judge who had rejected the application for anticipatory bail.

●

17. Cr.P.C., SECTIONS 226, 231 AND 225 : EXAMINATION OF PROSECUTION WITNESSES, DUTY OF THE PUBLIC PROSECUTOR : EXPLAINED :-
(2000) 7 SCC 490
HUKUM SINGH Vs. STATE OF RAJASTHAN

Public Prosecutor is not bound to examine all the witnesses including even those who, according to his information, would not support the prosecution case. Although Public Prosecutor should prefer to examine those witnesses who are not related to the victim instead of those who are related to the victim but if he comes to know that any of the non-related victims would not support the prosecution version, he may drop such witness from being examined. The Public Prosecutor has to take decision in that regard in a fair manner. **He can interview the witnesses beforehand to know in advance the stand to be taken by the witnesses.**

CRIMINAL TRIAL :- Witnesses may be related witnesses. Testimony of, cannot be disbelieved merely on the ground that they are related witnesses.

NOTE:- Judicial Officers are requested to go through the whole judgment, so that they are able to understand the law.

●

18. EVIDENCE ACT, SECTIONS 65 (c) & (f) AND 74 : SECONDARY EVIDENCE :-
(2000) 6 SCC 735
MARWARI KUMHAR Vs. BHAGWANPURI GURU

Secondary evidence of Judgment whose original and certified copy both lost. It was held that an ordinary copy of such judgment may be adduced in evidence. Clause (c) permitting secondary evidence is independent of clause (f) stipulating the filing of a certified copy of a public document as defined under S. 74. Therefore secondary evidence of public documents may be adduced if the conditions laid down in clause (c) that the original has been destroyed or lost are fulfilled. Appellant-plaintiff in suit for possession adducing in evidence ordinary copy of judgement and certified copy of decree in earlier suit between same parties, affirming appellant's title to suit property. Contention that original of judgment was no longer available in the records of the court and that certified copy was lost. Respondent- defendants never denying that title of appellant had been affirmed by judgment in question. Also never contending that copy was not correct. Trial court decreeing appellant's suit. First appellate court setting aside decree and finding that ordinary copy of judgement, a public document was inadmissible in evidence.

ADVERSE POSSESSION : PROOF OF :-

In absence of proof as to time and manner in which possession (as a pujari in this case) got converted to open, hostile and adverse possession, it was held that the claim to adverse possession cannot be upheld.

●

19. EVIDENCE ACT, SECTION 32 (1) : DYING DECLARATION : RELEVANCY- REMOTENESS CAUSE OF DEATH :
(2000) 6 SCC 671
SUDHAKAR Vs. STATE OF MAHARASHTRA

Statement of the deceased is admissible only to the extent of proving the cause or circumstances of the transaction which resulted in death of the deceased. Statement should have close nexus with the actual transaction. The prosecution relying upon the statement should prove the making of it as a fact by producing the scribe in court if it is in writing or by examining the person who heard the deceased making it if it is oral.

NOTE :- Please see the judgment

Statement of deceased giving circumstances in which she was allegedly raped by two accused, recorded by police 11 days after the occurrence. She committed suicide about 5½ months after the occurrence. At the time of making the statement, there was nothing indicating the deceased's mind for committing suicide on account of humiliation suffered by her due to rape, nor the circumstances stated in statement suggesting that a person making such statement would under normal circumstances commit suicide after a lapse of 5½ months. Therefore, in the circumstances of the case the statement did not constituted a dying declaration.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the whole judgment. The whole law relating to dying declaration has been explained in the judgment and in particular the leading case ***Pakla Narayan Swami Vs. the Emperor, AIR 1939 PC 47.***

●

20. EVIDENCE ACT, SECTION 50 : MARRIAGE :-
2000 (3) M.P.L.J. 361
RAMKALI Vs. MAHILA SHYAMWATI

Marriage under Section 50 of the Act can be established by means of evidence admissible under that section. Mere statement is that a person is or is not married is not admissible under section 50.

A reputation about marriage can only be established by means of evidence admissible under section 50 of the Evidence Act. A mere statement that a person is or is not married is not admissible under section 50 of the Evidence Act. What the court wants under section 50 of the said Act is opinion expressed by conduct of any person who as a member of the family or otherwise has special means of knowledge of the relationship.

HINDU SUCCESSION ACT, SECTION 8 SCH. AND S. 16 : PERMISSIBLE EITHER DEJURE OR DEFACTO MARRIAGE :-

For the applicability of Section 16 (1) of the Act either dejure or defacto marriage is permissible. In absence of marriage Section 16 will have no applicability.

The words "son" and "daughter" refer to "son" and "daughter" born out of union of subsisting marriage. Illegitimate son or daughter not included within the meaning of the term as used in the list of heirs in Class I of the Schedule.

●

21. EVIDENCE ACT, SECTIONS 40 AND 44 r/w TENANCY LAWS (LAND TENANCIES) (2000) 7 SCC 543

GRAM PANCHAYAT Vs. UJAGAR SINGH

Fradulent and collusive judgments may be challenged in a later suit or proceedings. It is not necessary to file independent suit for declaration or for setting it aside. More so, where public property is in jeopardy Collector allowing application and finding that an earlier decree obtained by respondents against the Panchayat, had been obtained in collusion with the then Sarpanch. It was held that High Court erred in allowing the writ petition of respondents and holding that as the appellant Panchayat had not filed an independent suit to set aside the earlier decree or sought a declaration, the statutory revenue authorities could not ignore it on the ground that it was collusive and fradulent. The property of a public institution cannot be allowed to be jeopardised by the persons who at the earlier point of time may have represented it and who were expected to effectively defend the public interest and community property.

Persons representing public bodies are expected to discharge their functions effectively and keeping with the trust the post reposed on them.

(**NOTE :** PLEASE GO THROUGH THE WHOLE JUDGEMENT.)

●

22. GOVERNMENT SAVINGS CERTIFICATES ACT, 1959, SECTIONS 6, 7, AND 8 r/w SECTION 370 INDIAN SUCCESSION ACT, SECTION 39 INSURANCE ACT AND SECTION 10 (2) EMPLOYEES' PROVIDENT FUNDS AND MISC. PROVISIONS ACT: RIGHT OF NOMINEE TO GET DESPATCHES ETC. QUESTION OF NOMINEE'S ENTITLEMENT WHETHER HE GETS EXCLUSION OF OTHER HEIRS : (2000) 6 SCC 724

VISHIN N. KHANCHANDANI Vs. VIDHYA LACHMANDAS

The nominee is entitled to receive the sum due on the savings certificates, yet he retains the same for the persons entitled to it under the relevant law of succession. The contention that the non obstante clause in S. 6 entitles the nominee to utilise the sum so received by him, in the manner he likes was rejected.

No doubt that by the non obstante clause the legislature devises means which are usually applied to give overriding effect to certain provisions over some contrary provisions that may be found either in the same enactment or some other statute. To attract the applicability of the phrase, the whole of the section, the scheme of the Act and the objects and reasons for which such an enactment is made have to be kept in mind. In view of the provisions of Section 8 (2) of the Act and the Statement of Objects and Reasons necessitating the passing of the Act read with Sections 8 (1) and 7, though the nominee of the National Savings Certificates has a right to be paid the sum due on such savings certificates after the death of the holder, yet he retains the said amount for the benefit of the persons who are entitled to it under the law of succession applicable in the case. however, subject to the exception of deductions mentioned in Section 8 (2).

The respondents (widow and daughter of the deceased) would, however, not be entitled to directly receive the amounts payable on account of debts payable under the National Savings Certificates. The appellants are entitled to receive the sum due on the aforesaid National Savings Certificates in which they are the nominees upon furnishing the undertaking in terms of Section 8 (2) in the Court of Civil Judge. The amount so received by the appellants shall be payable to the respondents after deduction of the amounts of debts or other demands lawfully paid or discharged, if any.

●

23. GUARDIANS AND WARDS ACT, SECTION 17 : WELFARE OF THE MINOR : CUSTODY ORDERS :-
(2000) 6 SCC 598
JAI PRAKASH Vs. SHYAM SUNDER AGARWALLA

The order remain in force for substantial periods to avoid unnecessary disruption of child's education. Custody orders by their very nature can never be final. However, before a change is made, it must be proved to be in the paramount interest of the child. In the present case, the mother gave child in adoption to her father, the appellant. Affluence of party seeking guardianship held cannot be the sole criterion for making the appointment. Mother who gave child in adoption could not reclaim guardianship.

●

24. HINDU SUCCESSION ACT, 1956, SECTION 6 PROVISO r/w S. 4 COPARCENARY RIGHTS OF FEMALE CLASS I HEIRS AND LAWS INCONSISTENT WITH THE ACT
(2000) 7 SCC 409
THIMMAIAH Vs. NINGAMMA

As under the proviso to Section 6 the interest in coparcenary property of a deceased leaving female Class I heirs cannot pass by survivorship at all, and under S. 4 the Act has overriding effect over any law governing Hindus which is inconsistent therewith, therefore, held, the question of such interest passing subject to the rights of any category of female relatives under S. 8 (1) (d) of the Karnataka Hindu Law Women's Rights Act, 1933, does not arise.

HINDU LAW (GENERAL) : COPARCENARY PROPERTY : POWER TO DISPOSE OF :-

It was held that it is limited in order to protect the interest of the other coparceners. Karta may dispose of such property if (i) disposition is of reasonable portion and is for a recognised "pious purpose"; or (ii) permission has been taken of other persons having an interest in the property, whether inchoate or otherwise. Since coming into force of Hindu Succession Act, 1956, S. 6 and proviso thereto, permission would have to be taken of all Class I heirs under the Act, which includes daughters. Permission of other coparceners only, not sufficient.

●

25. HINDU MARRIAGE ACT, SECTION 13 (1) (i-a) AND (i-b) EXPLANATION AND C.P.C.O. 6 R. 2 :- DIVORCE ON THE GROUND OF CRUELTY OF HIS WIFE :-
2000 (3) M.P.L.J. 404
SHRIKANT Vs. SAROJ

Husband in support of his allegations regarding the ground of cruelty should plead all material facts in relation there to. Vague and general averment of cruelty would not

constitute proper pleading. Husband himself responsible for estrangement and separation of parties. He was not entitled to decree of divorce on ground of desertion.

●

26. HIGH COURTS : GENERALLY : CONSIDERATIONS OF EQUITY :-
(2000) 7 SCC 521
COUNCIL FOR INDIAN SCHOOL CERTIFICATE EXAMINATION Vs. ISHA MITTAL

Considerations of equity do not permit High Courts to pass an order which is contrary to law. High Court passing interim order in writ petition granting relief which could have been granted finally. If the law was in favour of the appellant before it, it was obliged to make an order in favour of the appellant. It is the obligations of the High Court to decide the matters of law in accordance with law. Considerations of equity cannot prevail and do not permit a High Court to pass an order contrary to the law.

Paragraph 3 of the judgment is reproduced :-

The order under challenge was passed in an appeal against interim orders on the respondent's writ petition. The order states :

> "... Actually, the relief which the Court could have granted finally has been granted by means of the interim order. If the career of the student had not been involved, this Court would have certainly interfered with such orders, but after the declaration of the result and issuance of the mark-sheet, the petitioner might have taken admission in any university or college. Hence, it would not be appropriate for this Court to allow this special appeal because the entire career of the student would be adversely affected.
>
> In view of the aforesaid reason only, we dismiss the appeal but observe that this special appeal has been dismissed considering the facts and circumstances of the present case only and it would not be a precedent for similar other cases".

●

27. I.P.C., SECTIONS 306 AND 498-A : "CRUELTY" UNDER SECTION 428-A EXPLAINED : ABETMENT OF SUICIDE :-
2000 (4) M.P.H.T. 277
KANHAI Vs. STATE OF M.P.

Following portion is reproduced with the courtesy of M.P.H.T. Publishers :

Dead boy of wife of appellant found in a well. It was alleged that accused used to quarrel with deceased and harassed her. On the date of incident also quarrel took place in the family. Accused/husband slapped the deceased. Deceased jumped into the well along with her infant daughter. Both of them died in the well. Accused was convicted and sentenced for offence under Section 498-A and 306 IPC. Against it, this appeal was preferred. It was held that it is proved that marriage took place about 4-5 years prior to date of incident. Deceased was harassed and ill-treated. Harassment was to the extent that villagers had to intervene to subside the quarrel. She was immediately before death subjected to cruelty. She was under constant threat. Deceased was subjected to utmost cruelty. The act of accused clearly amounts to abetment of suicide under Section 306 and cruelty under Section 498-A, IPC. The High Court did not interfere. Appeal dismissed. **AIR 1998 SC 474, AIR 1996 SC 67, 1990 Cr.LJ 407 and 1999 (1) MPLJ 167** distinguished.

"Cruelty" as defined in Section 498-A, IPC has two facets independent of each other. First is wilful conduct which may drive a woman to commit suicide or to cause grave injury or danger to life, limb or health (whether mental or physical) of the woman. The other facet deals with the harassment with a view to meet any unlawful demand for any property or valuable security or is on account of failure by her or any person related to her to meet such demand. It is not necessary so as to constitute cruelty within the meaning that harassment must accompany unlawful demand for any property or valuable security. Explanation (a) is clear enough to take into its ambit, the case of wilful conduct which may drive a woman to commit suicide.

●

28. INTERPRETATION OF STATUTES : BASIC RULES : DETERMINATION OF LEGISLATIVE INTENT :-
(2000) 7 SCC 510
J. CHATTERJEE Vs. MOHINDER KAUR UPPAL

A balance must be maintained between the general object of rent control legislation, which is to protect tenants from arbitrary action of landlords, and the assistance required to be provided, under special provisions, to a special class of landlords, including widows, to recover possession of tenanted premises for self-occupation.

RENT CONTROL AND EVICTION : LEAVE TO DEFEND : RIGHT TO RECOVER IMMEDIATE POSSESSION TO BE GRANTED : BONAFIDE REQUIREMENT OF THE LANDLORD :-

Eviction petition based on widow's rights to recover immediate possession should not be frustrated by granting leave to defend, unless the tenant makes out a real and substantial case that the widow's plea of personal requirement is nothing but a pretence. Further proceedings should not be dragged on unnecessarily.

●

29. JURISPRUDENCE : WORDS AND PHRASES : NON-OBSTANTE CLAUSE :-
(2000) 7 SCC 291
A.P. STATE FINANCIAL CORPORATION Vs. OFFICIAL LIQUIDATOR

The non obstante clause in subsequent general Act would prevail over a conflicting provision in a prior special Act.

STATE FINANCIAL CORPORATIONS ACT, SECTIONS 29 AND 46 : RIGHTS OF FINANCIAL CORPORATION LIQUIDATOR AS SUBJECT TO COMPANY LAW :-

The Act of 1951 is a special Act for grant of financial assistance to industrial concerns with a view to boost up industrialisation and also recovery of such financial assistance if it becomes bad and similarly the Companies Act deals with companies including winding up of such companies. The proviso to sub-section (1) of Section 529 and section 529-A being a subsequent enactment, the non obstante clause in section 529-A prevails over Section 29 of the Act of 1951. Therefore, the statutory right to sell the property under Section 29 of the Act of 1951 has to be exercised with the rights of pari passu charge of the workmen created by the proviso to Section 529 of the Companies Act. Under the proviso to section 529 (1), the liquidator shall be entitled to represent the workmen and enforce the above pari passu charge. Therefore, the company Court was fully justified in

imposing the conditions in question to enable the official Liquidator to discharge his function properly under the supervision of the Company Court as Section 529-A of the Companies Act confers upon a Company Court a duty to ensure that the workmen's dues are paid in priority to all other debts in accordance with the provisions of the above section. The legislature has amended the Companies Act in 1985 with a social purpose viz. to protect dues of the workmen.

The High Court's opinion that it was not necessary for the Financial Corporation to approach the Court for permission to stay outside the winding up proceedings, was uncalled for as the power under Section 29 of the Act of 1951 can be exercised subject to the above provisions of the Companies Act.

Therefore, the imposition of the conditions in question by the High Court was lawful.

●

30. JUVENILE JUSTICE ACT, SECTIONS 2 (h), (e) AND 22 : DELINQUENT JUVENILE NOT LIABLE TO IMPRISONMENT AND HAS TO BE TRIED BY JUVENILE COURT AND NOT BY SESSION COURT :-
(2000) 6 SCC 759
RAJ SINGH Vs. STATE OF HARYANA

The alleged occurrence of offence took place on 22-5-1990. Appellant was born on 9-12-1974. The appellant was a juvenile being less than 16 years of age of time of the occurrence and therefore, trial should have been held by juvenile Court.

The whole judgment from paragraphs 1 to 5 are reproduced :

1. The appellant before us has been convicted for the offence under Section 20 of the Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act, 1985 for possession of charas. The prosecution case is that on 25-5-1990, on suspicion the appellant and one Tulsa Bai were apprehended when opium from Tulsa Bai and charas from the appellant were recovered. The trial Court acquitted both the accused in separate trial. However, on appeal by the State the judgment of the Sessions judge was reversed in the case of the appellant by setting aside the acquittal and he had been convicted for the said offence and sentenced to undergo imprisonment. Hence the appeal.

2. In this appeal it is urged that the appellant was born on 9-12-1974 and as the date of alleged committal of offence was 22-5-1990, and on that day, he was a juvenile being less than 16 years of age, he could not have been tried by the Sessions Court but by the Juvenile Court and hence his conviction is bad. Unfortunately this contention has not been raised at any stage earlier. Section 2 (h) of the Juvenile Justice Act, 1986 (hereinafter referred to as "the Act") defines a juvenile to be a person of less than 16 years of age, Section 2 (e) of the Act defines that a juvenile who has been found to have committed an offence is a delinquent juvenile. Section 22 of the Act provides that in no case a delinquent juvenile is liable to imprisonment but has to be tried by the Juvenile Court and cannot be tried by the Court of Session. We are fortified in this view by a decision of this Court in ***Raghbir v. State of Haryana.***

3. It is on record that the appellant's date of birth is 9.12.1974 as per the certificate issued by the Board of School Education, Haryana, This certificate stands reaffirmed by another certificate produced today before the Court verifying the said fact. In the circumstances, there cannot be any serious dispute about the date of birth of the

appellant i.e. 9-12-1974. If that is so, the trial should have been held only as provided under Section 22 of the Act so a different procedure followed leading to conviction of the appellant is vitiated.

4. We allow this appeal and set aside the conviction and sentence imposed upon the appellant. We direct that the entire trial shall stand quashed and the appellant should be dealt with in accordance with the provisions of the Act.

5. It will be open to the appellant to move an appropriate application for grant of bail in the trial court.

NOTE :- Please refer to judgment of the Supreme Court in ***Arnit Das Vs. State of Bihar (2000) 5 SCC 488,*** which is also Published in the same issue of Joti Journal.

●

31. LAND ACQUISITION ACT, SECTIONS 5-A, 6 AND 48 : PERSONAL OBJECTIONS TO NOTIFICATION OF LAND, BENEFIT :-
(2000) 7 SCC 296
DELHI ADMINISTRATION Vs. GURUDIP SINGH UBAN

Personal objections to notification of land, where not filed. Benefit of High Court order quashing order under S. 5-A and declaration under Section 6. Not available unless very basis of notification affected. Discretionary release of land not acquired where High Court issues a writ absolute, without reasons, quashing orders of the appropriate authority under S. 5-A and the Lt. Governor's declaration under S.6 and gives its reasons in a later order, It was held that the later order containing the reasons cannot go beyond the four corners of the rule absolute already issued unless a question going to the root of the land acquisition, covering entire land notified under Section 4 has arisen and has been decided. Therefore, the order under Section 5-A and the declaration under Section 6 would be quashed only in respect of those persons who had raised personal objection under S. 5-A and were represented before the Court.

Objections to notification; declaration that land is required for a public purpose. Objections which are personal to the objector or relate to a particular piece of land, held, must be raised at the S. 5-A inquiry, otherwise notification issued under S. 6 would be conclusive proof that such objections had been waived.

●

32. LAND ACQUISITION ACT, SECTIONS 3 (f) (iv), 4, 6, AND 17 (1) : INADVERTENT ERROR IN PUBLICATION AND DELAY IN PUBLICATION : EFFECT OF : NO EFFECT
2000 (3) M.P.L.J. 453
KISHANLAL Vs. STATE OF M.P.

Acquisition of land f or Government Company is for a public purpose.

PRINTING ERROR : EFFECT OF :-

Competent Authority granted approval for acquisition of the land under section 4 (1) read with Section 17 (1) of the Act on 6th February, 1999, but the Gazette notification under section 4 (1) read with section 17 (1) of the Act was published on 1st February, 1999 which was a printing error. Acquisition is not invalidated on account of this inadvertent error.

DELAY :- Acquisition was for a Government Company. Delay of 3 years in invoking urgency powers under Section 17 (1) of the Land Acquisition Act. Authorities proceeded on an erroneous assumption that acquisition was for a company and as such Part VII of the Act was applicable and hence the delay. The delay has not affected the subjective satisfaction for dispensing with the enquiry. Acquisition was therefore not vitiated on account of delay.

●

33. LAND ACQUISITION ACT, 1894, SECTIONS 25 AND 28 AND LAND ACQUISITION ACT, 1984 :-
(2000) 7 SCC 756
KRISHI UTPADAN MANDI SAMITI Vs. KANHAIYA LAL AND OTHER CASE

The language of Section 25 clearly shows that it is substantive in nature and therefore cannot be said to be retrospective. Awarding, curtailing, restricting, or enhancing the right to compesnation can never be held to be procedural matters. Therefore the amendment to S. 25 cannot be applicable retrospectively. Where award was given and all proceedings under the Act (old) concluded prior to introduction of Act 68 of 1984, it was held that compensation could not exceed the amount claimed and interest on excess amount awarded could not exceed 6% per annum. No Court can grant benefit under the New Act as before 1982 (date of introduction of amendment bill in Lok Sabha).

Therefore, the High Court erred in (i) raising compensation from Rs. 3 per Sq yard to Rs. 11 per Sq yard when respondent landowners had been claiming only Rs. 10,000 per bigha, and (ii) in awarding interest at 9% per annum to be raised to 15% if excess amount paid after expiry of one year. However enhancement of compensation to the extent of Rs. 10,000 per Bigha was held to be valid as respondent landlords have been claim only Rs. 10,000 per bigha.

●

34. LIMITATION ACT, ARTS. 148 AND 134 : DATE OF KNOWLEDGE REGARDING REGISTRATION OF DOCUMENT IS THE DATE OF REGISTRATION :-
(2000) 7 SCC 702
DILEOO Vs. DHANRAJI

Recovery of possession of mortgaged immovable property transferred by mortgagee. Deemed knowledge of 12-year limitation period held that where the transfer is by registered document, the date of registration becomes the date of deemed knowledge. In cases where a fact cannot be discovered by due deligence, plaintiff would be deemed to have the necessary knowledge. In such cases the limitation period of 12 years runs from the date of knowledge of the plaintiff of the transfer. The burden is on the plaintiff to show that the suit is within limitation.

●

35. MOTOR VEHICLES ACT, 1988, SECTIONS 149 (2), 169, 170 AND 173, C.P.C., SECTION 115 AND CONSTITUTION OF INDIA, ART. 227 : CIVIL REVISION :-
2000 (4) M.P.H.T. 288 (FB)
NEW INDIA INSURANCE CO. LTD. Vs. Smt. RFEEKA SULTAN

The question was whether the Insurance Company can challenge the quantum of

compensation under Section 115 of the CPC or under Art. 227 of the Constitution of India. The Full Bench answered as under :

Where appeal is provided, revision under Section 115 of the Code of Civil Procedure or petition under Art. 227 of the Constitution of India is not available. It was further held that where insurance Company cannot file appeal, it cannot file revision under Section 115 of the Civil Procedure Code or a petition under Art. 227 of the Constitution of India. The civil revision was dismissed.

●

36. MOTOR VEHICLES ACT, 1988, SECTION 2 (21) AND (22) :-
2000 (3) M.P.L.J. 469
NEW INDIA INSURANCE CO. LTD. Vs. MUNNI BAI

Light Motor Vehicle and maxi cab vehicle involved in accident as per registration particulars of light motor vehicle with un-laden weight less than 7500 Kgs. and categorised as maxi cab. Driver of vehicle holding licence to drive light motor vehicle cannot be said to be not possessing a valid driving licence.

●

37. M.P. LOKAYUKT EVAM UP-LOKAYUKT ADHINIYAM, SECTION 14, 7, AND 13 (3) AND PREVENTION OF CORRUPTION ACT, SECTION 13 (1) (e) AND (2) :-
2000 (3) M.P.L.J. 372
KHAGESHWAR PRASAD Vs. STATE OF M.P.

Accused prosecuted under the Prevention of Corruption Act, for having acquired assets more than his income during period of 1980 to 1992. The accused submitted that Up-Lokayukt made an enquiry for the said period and gave him a clear chit and therefore his report should be summoned by trial Court under section 91 (1) of Cr.P.C. Trial Court was not bound to call for that report in view of the bar under Section 14 of the Act.

●

38. M.P. SAMAJ KE KAMJOR VARGON KE.. ADHINIYAM, SECTIONS 2 (f), 12, 14, M.P. GRAMIN RIN VIMUKTI ADHINIYAM, S. 7 AND C.P.C., SECTION 47 :-
2000 (3) M.P.L.J. 328
WAMAN Vs. BALDEVDAS

There was a challenge to decree on the ground of nullity and the objection was filed under Section 7 of the Code., that the exparte decree was nullity. The executing Court has no jurisdiction to question the validity of the decree. The judgment debtor cannot be permitted to take a plea of this nature to challenge the decree to be a nullity. The defendant having not raised the plea in the suit that the section 7 of the Adhiniyam creates a juridictional bar and from averments in the plaint same was not discernible, the executing Court could not have delved into the said realm to declare the decree a nullity.

●

39. 1. M.P. ACCOMODATION CONTROL ACT. SECTION 12 (1) : EVICTION : COMPROMISE : EFFECT OF :-
2. C.P.C., O. 23 R. 3 CPC : IF COMPROMISE IS VALID CANNOT BE SET ASIDE
2000 (2) JLJ 373
LAXMAN PRASAD Vs. BALWANT SINGH

Tenant admitting to vacate premises upto given date. He is admitting grounds of

eviction in favour of landlord. Compromise executed in the case is valid one and cannot be set aside.

NOTE :- Please go through 'JOTI JOURNAL' August 2000 part at page 421 relevant page 429 regarding compromise in eviction suits.

●

40. M.P. ACCOMODATION CONTROL ACT. SECTIONS 12(1)(E) AND 12 (1) (F) :- 2000 (2) JLJ 379
KAILASH CHANDRA TRIVEDI Vs. PUNJAB NATIONAL BANK

Landlord has to decide the manner of living. He is the best judge. Court cannot direct him how to live. He is the best judge where he should carry on business.

●

31. MUSLIM WOMEN (PROTECTION OF RIGHTS ON DIVORCE) ACT, SECTIONS 3 AND 4 : DISSOLUTION OF MUSLIM MARRIAGE : BY DIVORCE OR DEATH : 2000 (4) M.P.H.T. 79 (NOC)
JAVED RAZA Vs. RAHMAT NAWAZ

Dissolution of marriage by death does not confer status of divorced woman on deceased wife. The respondents are not legally entitled to file application under Section 3 read with Section 4 of the Act. They can file a civil suit. The respondents claim amount of Mehar and also of gifts under Sections 3 and 4 of the Act which were given at the time of marriage. The wife of the petitioner, who was mother of respondent No. 1 was killed by the petitioner. A woman who is legally divorced by her husband or when he obtains divorce, she is said to be a divorced wife.

●

42. N.D.P.S. ACT, SECTIONS 8, 20 (b) (i) 42 AND 50 : 2000 (3) M.P.L.J. 447
KRISHAN KUMAR Vs. STATE

Section 50 does not require notice to be given to the accused if premises are required to be searched. Such plea not tenable. The contraband was kept in and was recovered from the house of the accused. Plea of the accused was that it was seized from open place and therefore, could not be connected with the accused was not acceptable. The Act nowhere provides that the form or the manner in which information about the possession of contraband is required to be recorded. It only provides for the information to be taken down in writing and to be sent to the immediate superior officer. Section 42 of the Act referred.

CRIMINAL TRIAL :- In this case there was overwriting in the Rojnamcha Sanhas. Genuineness of Rojnamcha was proved. Therefore, in overwriting in the earlier or subsequent Sanhas would not affect prosecution case. Plea taken that documents showing the date of seizure prepared on 30-5-1997 were forged to show that they were prepared on 31-5-1997. Mere wrong mention of the date would not be sufficient to hold that the documents prepared on 30th May, 1997 were later on forged to meet with other documents. The plea was negative.

●

43. N.D.P.S. ACT, SECTIONS 50, 57 AND 60 (3) :-
2000 (3) M.P.L.J. 419
SUNIL KUMAR Vs. STATE

Section 50 of the Act is applicable to personal search only. Such requirement comes into existence only when person of accused is to be searched. The provisions of Section 57 are directory and not mandatory. Under Section 60 (3) of the Act the Court has discretion in the matter of confiscation of conveyance used in carrying any narcotic drug.

●

44. OFFICIAL SECRETS ACT, S. 13 (3) AND (5) Cr.P.C., SECTION 470 (3), 473 AND 245 : LIMITATION ACT GENERAL : PROSECUTION AND LIMITATION ACT (2000) 7 SCC 656
RAKESH KUMAR JAIN Vs. STATE THROUGH C.B.I.

The applicant Rakesh Kumar Jain filed an application for discharging him under Section 245 of the Cr.P.C. on the ground that cognizance of offence could not be taken under Section 13 (3) of Official Secrets Act as complaint regarding action under Section 5 (4) r/w Section 5 (2) and (3) of the Act was barred by limitation. It was held that mere expiry of limitation period would not entitle the accused to be discharged as complainant has right to seek explanation of time under Section 473 by explaining the cause of delay.

GRANTING "CONSENT" OR "SANCTION":- Under Section 470 (3) granting "consent" or "sanction" is a quasi Judicial function whereas passing of order or conferment of authority or empowering an officer for filing a complaint is an administrative function.

POWERS OF THE APPELLATE COURT UNDER SECTION 473 :-

Plea can be entertained and decided by the appellate Court where the matter pending and need not be remanded to the trial Magistrate for this purpose :

Paragraphs 4, 7, 10 and 11 are reproduced :

4. Sub-section (3) provides that cognizance of offence under the Act can be taken only upon complaint which is (a) filed by order of the appropriate Government ; or (b) filed under authority from the appropriate Government ; or (c) by some officer empowered by the appropriate Government. No consent or sanction of the Government or any authority, as contemplated by explanation to Sub-section (3) of Section 470 CrPC, is required for filing the complaint under the Act. "Consent" or "sanction" envisaged under Section 470 CrPC cannot be equated with the "order" or "authority" for the purposes of filing the complaint as envisaged by sub-section (3) of Section 13 of the Act. Specific provisions have been made in various statutes requiring previous consent or sanction for the purposes of launching of prosecution against the accused under those enactment. Explanation to sub-section (3) of Section 470 Cr.P.C. obviously refers to such consents and sanctions and not the order or authority as required under the Act. Consent or sanction as are referred to in the Prevention of Corruption Act, Prevention of Food Adulteration Act, various Foodgrains Control Orders, and other similar enactments envisage the application of mind before the grant of such consent or sanction which is a quasi-judicial function, whereas the passing of order, individual or general, or conferment of authority individually or generally, or empowering a person for the purposes of filing a complaint is only an ad-

ministrative action facilitating in identifying the complainant before the court for the purposes of filing and prosecuting the case under the Act. The legislature, in its wisdom, thought it appropriate to exclude only such period which is required for obtaining the previous consent or sanction of the Government for institution of any prosecution of an offence and not obtaining of orders or authority or naming a person for the purpose of filing the complaint.

7. Learned Additional Solicitor General wanted to impress upon us that sub-section (3) was in two parts-one dealing with the passing of the order which necessarily meant consent or sanction and the second dealing with the person authorised to file the complaint. On critical examination of the plain words of the sub-section and the object underlying it, we do not agree that the aforesaid sub-section has two parts, as argued. We conceive no doubt that sub-section (3) of Section 13 envisages only the filing of the complaint, by order of or under authority from the appropriate Government or by an officer empowered by such Government. If the intention of the legislature was to have the section in two parts, one dealing with the grant of consent or sanction by way of order and the other part dealing with the authority of the person to file the complaint, in that case after the words "made by order of", there should not have been a "comma" and the word "or". In that event for the word "or" the legislature must have used the word "and" and omitted the comma.

10. The mere fact that the complaint was filed 25 days after the expiry of the period of limitation, did not entitle the accused to seek his discharge under Section 245 CrPC because the complainant has, under law, a right to seek for extension of time under Section 473 CrPC. The complainant could satisfy the Magistrate on the facts and circumstances of the case that the delay was explainable which was occasioned on account of their bona fide belief to obtain the sanction for the purpose of filing the complaint. After noticing the averments made in the complaint and perusing the record particularly the order of the Government of India dated 21-4-1988, authorising Shri K.N. Tiwari, Deputy Superintendent of Police, Central Bureau of Investigation. New Delhi to lodge the complaint, it can be safely held that the complainant was entitled to extension of the period of limitation under Section 473 CrPC. No useful purpose would be served by again directing the complainant to approach the trial Magistrate for the purposes of seeking extension of period of limitation. The complainant is held to have explained the delay in filing the complaint which required extension. The complaint is therefore, held to be within time and the petitioner is not entitled to be discharged on this ground.

11. During the arguments it was pointed out that as various complaints filed after obtaining sanction from the Central Government and the courts having given the exclusion of the period in terms of explanation to subsection (3) of Section 470 CrPC, this judgment of ours may amount to upsetting all such orders and affect the pending ongoing proceedings under the Act. The accused in those cases, in such event, may be lured to raise similar pleas as have been raised in this case for the purposes of quashing the proceeding on the basis of this judgment. Though the apprehension appears to be misconceived, yet we make it clear that the present judgment would not, in any way, affect the continuing proceedings in any court wherein the complaints, under the Act, have been filed after obtaining sanction and the courts have

given remission of the period in terms of explanation to subsection (3) of Section 470 CrPC. All such extensions shall be deemed to be valid even under Section 473 CrPC.

Note :- Judicial Officers are requested to go through the following judgment of the Supreme Court published in 1997 (5) JOTI (October, 1997) page 44 under Section 473 Cr.P.C. and 5 of the Limitation Act. The name of the case is (1993) 3 SCC 4-7-8= 1993 SCC (Cr) 571.

The portion is reproduced here :

DIFFERENCE BETWEEN S. 473 CR.P.C., AND SECTION 5 LIMITATION ACT : *VANKA RADHAMANOHARI Vs. VANKA VENKATA REDDY,* (1993) 3 SCC 4.7.8 1993 SCC (CRI) 571.

In view of S. 473 a court can take cognizance of an offence not only when it is satisfied on the facts and in the circumstances of the case that the delay has been properly explained, but even in absence of proper explanation it the court is satisfied that it is necessary so to do in the interests of justice. The said S. 473 has a non-obstante clause which means that said section has an overriding effect on S. 468, if the court is satisfied on the facts and in the circumstance of a particular case, that either the delay has been properly explained or that it is necessary to do so in the interests of justice.

At times it has come to notice that many courts are treating the provisions of S. 468 and S. 473 of the Code as provisions parallel to the periods of limitation provided in the Limitation Act and the requirement of satisfying the court that there was sufficient cause for condonation of delay under S. 5 of the Act. There is a basic difference between S. 5 of the Limitation Act and S. 473 or the Code. For exercise of power under S. 5 of the Limitation Act. the onus is on the appellant or the applicant to satisfy the court that there was sufficient cause for condonation of the delay, whereas S. 473 enjoins a duty on the court to examine not only whether such delay has been explained but as to whether it is the requirement of the justice to condone or ignore such delay. As such, whenever it is necessary to condone such delay in the interest of justice. While examining the question as to whether it is necessary to condone to delay in the interest of justice, the Court has to take note of the nature of offence, the class to which the victim belongs, including the background of the victim.

●

45. PARTNERSHIP ACT, SECTION 69 : APPLICABILITY, ITS EXTENT TO : ARBITRATION ACT, SECTION 14 (2) DEFENDING PERSONS :-
(2000) 6 SCC 659
KAMAL PUSHP ENTERPRISES Vs. D.R. CONSTRUCTION CO.

Section 69 of the Partnership Act is confined only to enforcement of a right arising from a contract by an unregistered firm by instituting a suit or other proceedings in court. Arbitration proceedings cannot be treated as suit or other proceedings to enforce any rights arising under a contract. Section 69 does not prohibit an unregistered firm, respondent, from defending an arbitration proceedings initiated by the opposite party, appellant itself by seeking to appoint the arbitrator in terms of the arbitration clause contained in the contract between the parties and to make reference of dispute between them to the arbitrator. After the arbitrator passed award in favour of the respondent firm, rights of the parties were crystalized and when the arbitrator suo motu filed the award before trial

court under S. 14 (2) of the Arbitration Act. It was held appellant was not entitled to raise a preliminary objection based on Section 69. That was not a jurisdictional issue in respect of the arbitrator's power, authority and competency itself so as to enable the appellant to raise the same at any stage.

NOTE:- Please refer to **AIR 1996 MP 139 = 1996 MPLJ 240 = 1996 JLJ 225.**

●

46. PRACTICE AND PROCEDURE : GENERAL : AMICUS CURIAE :-
(2000) 7 SCC 668
CHARAN SINGH Vs. HEALING TOUCH HOSPITAL AND OTHERS

Even in the presence of a party Amicus Curiae can be appointed. Appellants have appeared in person before the Supreme Court but the Court found that on account of physical disabilities it was not in position to properly assist the Court, in such circumstances Supreme Court appointed a senior counsel to act as Amicus Curiae.

●

47. PRACTICE AND PROCEDURE : QUESTION OF LAW AND QUESTION OF FACT:
(2000) 7 SCC 522
SHAMA PRASHANT Vs. GANPATRAO

Whether a tenant is a habitual defaulter or whether there has been sub-letting, it was held that are not pure questions of fact, but can be held to be mixed questions of fact and law.

●

48. PLEADING AND PROOF AND C.P.C. O. 6 R. 2 AND O. 7 GENERALLY : SUIT FOR EVICTION :-
2000 (2) JLJ 379
KAILASH CHANDRA TIWARI Vs. PUNJAB NATIONAL BANK

"Non availability of suitable non-residential accommodation in occupation" should be pleaded. Accommodation in possession of tenant and eviction suit need not be pleaded.

Note :- Please refer to the words used under Accommodation and Control Act in Section 12(1)(e) and 12 (1)(f) :

The common words are "He is the owner there of"

"Has no other reasonable suitable residential/non-residential accommodation of his own in his occupation in the city or town concerned".

Please also go through **1998 April Joti Journal from pages 56 to 67** relating to the article framing of issues and the model forms of the issues.

●

49. PREVENTION OF FOOD ADULTERATION ACT, SECTIONS 16 (1) (a) (i) AND FOOD ADULTERATION RULES, Rr. 14, 15 AND 16 : QUESTION OF MENSREA :-
2000 (3) M.P.L.J. 336
MUNICIPAL CORPORATION, KHANDWA Vs. NARSINGHDAS

Question of mensrea is irrelevant in food offences. Adulterated refined rape seed oil was seized. Oil collected was not stirred by the Food Inspector and also it was not taken with the help of clean utensils. There was vast variance in the report of the Public Analyst and in that of Central Food Laboratory indicating thereby that sample was not of duly

representative character and was not properly collected and sealed.

In the trite law that in food offences strict liability is the rule not merely under the Indian Act but all the world over. Nothing more than the actus reas is needed where regulation of private activity in vulnerable areas like public health is intended. It is true that for the protection of the liberty of the citizen in the definition of offences blameworthy mental condition is ordinarily an ingredient either by express enactment or clear implication; but in Acts to deal with the grave social evils, or for ensuring public welfare, especially in offences against public health e.g. statutes regulating shortage or sale of article of food and drink, sale of drugs, sale of controlled or scarce commodities, it is often found necessary in the larger public interest to provide imposition of liability without proof of guilty mind.

●

50. RECOVERY OF DEBTS.... ACT, 1993, SECTIONS 18 AND 31 (1) : BAR TO JURISDICTION OF CIVIL COURT AND TRANSFER OF PENDING CASES :-
(2000) 7 SCC 357
UNITED BANK OF INDIA Vs. ABHIJIT TEA CO. PVT. LTD.

Cases remanded by appellate court after coming into force of the Act, held, would be deemed to be pending from the day it was originally instituted and therefore liable to be transferred to the Tribunal.

COUNTER CLAIM :- Counter claim is equivalent to cross suit. It includes even a claim made in an independent suit filed before by a Court or Financial Institution.

NOTE :- Principles of O. 6 R. 6-A relating to counter claim and O. 8 R. 6 set off may be made applicable to such cases. In the present case plea for deducting "damages" raised in a suit by Respondent Company was broadly a plea of "set off" falling under Ss. 19 (6) and (7). Such claim pending in civil Court is liable to be transferred to the Tribunal.

●

51. RECOVERY OF DEBTS DUE TO BANKS AND FINANCIAL INSTITUTIONS ACT, 1993 : (RECOVERY OF DEBTS ACT, FOR SHORT) SECTIONS 1 (4), 2 (g), 17, 18, 31, 31-A AND 34 : TRANSFER OF CASES FROM THE CIVIL COURT TO DEBTS RECOVERY :-
(2000) 6 SCC 655
PUNJAB NATIONAL BANK Vs. CHAJJU RAM

Where the decree for a sum exceeding the minimum prescribed by Section 1 (4) was passed in favour of a Bank by a Civil Court prior to the application of Act, but remained unexecuted till the establishment of Debts Recovery Tribunal, the jurisdiction to entertain an application for execution of such decree was held to be possessed by the said Tribunal and not by the Civil Court. The amount of interest payable and the principal amount have to be taken into consideration.

●

52. SERVICE LAW STATE REORGANISATION : PUNJAB REORGANISATION ACT, 1966 : SECTIONS 67 (3) , 83 AND FROM 47 TO 66 :
(2000) 7 SCC 339
ELECTRICITY EMPLOYMENT UNION Vs. UNION OF INDIA AND OTHER CASES

Allotment of services of employees of erstwhile Punjab State Electricity Board working within the territorial limits of UT Chandigarh on the date of formation of the successor State of Punjab, held could be done under S. 67 (3) and not under Ss. 82, 83 or 84 Punjab Reorganisation Act. 1966. On facts, held, they were allocated to Punjab Electricity Board and were allowed to work on deputation with the Administration of UT Chandigarh.

Pt. VI of Punjab Reorganisation Act held applicable to apportionment of assets and liabilities of erstwhile State of Punjab and not to apportionment of assets and liabilities of the existing Punjab State Electricity Board to which S. 67 is applicable.

●

53. SERVICE LAW : WORDS AND PHRASES : "USELESS FORMALITY THEORY":-
(2000) 7 SCC 529
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY Vs. MANSOOR ALI KHAN

This is an exception. Apart from the class of cases of **"admitted or indisputable facts leading only "to one conclusion"** as discussed in ***S.L. Kapoor Vs. Jagmohan, (1980) 4 SCC 379,*** there has been considerable debate on the application of that theory in other cases. In the ultimate analysis the applicability of the theory would depend on the facts of a particular case.

Paragraph 25 of the judgment is reproduced :

The "useless formality" theory, it must be noted, is an exception. Apart from the class of cases of "admitted or indisputable facts leading only to one conclusion" referred to above, there has been considerable debate on the application of that theory in other cases. The divergent views expressed in regard to this theory have been elaborately considered by this Court in **M.C. Mehta, (1999) 6 SCC 237** referred to above. This Court surveyed the views expressed in various judgments in England by, Lord Reid, Lord Wilberforce, Lord Woolf, Lord Bingham, Megarry, J. and Straughton, L.J. etc. in various cases and also views expressed by leading writers like Profs. Garner, Craig, de Smith, Wade, D.H. Clark etc. Some of them have said that orders passed in violation must always be quashed for otherwise the court will be prejudging the issue. Some others have said that there is no such absolute rule and prejudice must be shown. Yet, some others have applied via media rules. We do not think it necessary in this case to go deeper into these issues. In the ultimate analysis, it may depend on the facts of a particular case.

●

54. SERVICE LAW : TERMINATION OF SERVICES : AUTOMATIC TERMINATION UNDER RELEVANT RULES FOR UNAUTHORISED ABSENCE BUT WITHOUT AFFORDING OPPORTUNITY THEREUNDER :-
(2000) 7 SCC 529
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY Vs. MANSOOR ALI KHAN

Automatic termination under relevant rules for unauthorised absence but without affording opportunity thereunder. It violates the principle of natural justice and vitiated the termination order.

●

55. SERVICE LAW : FAMILY PENSION : "FAMILY" SCOPE : PUNJAB CIVIL SERVICE RULES :
(2000) 6 SCC 560
PUNJAB STATE ELECTRICITY BOARD Vs. RAM RAKHI

Widowed sister is also covered, hence could also claim family pension in Punjab Civil Services Rules. In order to be eligible to family pension one must prove that there is no nomination by the deceased and that she was dependent on the deceased.

●

56. SERVICE LAW : PROMOTION : SELECTION OF POST : DETERMINATION AND CRITERION FOR SELECTION :-
(2000) 6 SCC 698
UNION OF INDIA Vs. L.T. GEN. RAJENDRA SINGH

Selection for promotion is based on different criteria depending upon the nature of the post and requirements.

NOTE :- Judicial Officers are requested to go through the whole judgment because the entire law relating to selection of post, promotion, test to determine and criteria and etc. etc. is explained.

●

57. SERVICE LAW : DISCRETION : EXERCISE OF : WORDS AND PHRASES : "DISCRETION" :
(2000) 7 SCC 390
MANJUSHREE PATHAK Vs. ASSAM INDUSTRIAL DEVELOPMENT CORPN. LTD.

With the courtesy of Eastern Book Company, Lucknow following portions are reproduced :-

A. Service Law- Voluntary retirement- Discretion of an authority, covered by Art. 12, to accept or reject the application for Manner of exercise of such discretion- Held, has to be exercised reasonably, fairly and judiciously. The discretion is not unfettered or absolute- Where the employee satisfied all the conditions precedent under Assam Industrial Development Corporation Voluntary Retirement Scheme, 1992 and her application for voluntarily retirement with immediate effect as postulated in the prescribed form remained undecided for two months and a week long period despite several reminders and thereafter a show-cause notice against her indulgence in political activities was issued to her on the basis of a subsequent complaint, held, she was entitled to the relief of being treated to have voluntarily retired with effect from the date of her application for voluntary retirement and to all retrial benefits- Assam Industrial Development Corporation Voluntary Retirement Scheme, 1992, cls. 8.1. & 3 to 7 Discretion of the management to accept or reject the request for voluntary retirement-Nature and manner of exercise of-Constitution of India, Art. 12- Authority falling under Manner of exercise of discretion by such authority- Administrative Law- Administrative action- Discretion- Manner of exercise of Departmental enquiry-Show-cause notice against alleged misconduct- Issued on the basis of a complaint subsequent to filing of application for voluntary retirement by an employee qualified to voluntarily retire- Legality- Such show-cause notice, held inconsequential

B. Constitution of India- Art. 226 Show cause Notice : Premature writ petition Voluntary retirement- Employee submitting application for, with immediate effect under the relevant voluntary retirement scheme. Application submitted in the prescribed form- Authorities remaining silent despite a number of reminders from the applicant- After a long period of two months and a week, on the basis of a subsequent complaint, the authorities issuing to the applicant a show-cause notice against alleged indulgence of the applicant in political activities- At this stage the applicant filing a writ petition seeking the relief of having retired from the date of employment and payment of retiral benefits- In the said circumstances, High Court erred in holding the writ petition to be premature- Service Law- Writ petition- Against omission on the part of authorities to respond to application for voluntary retirement- If on facts premature- Service Law- Voluntary retirement- Writ petition for enforcement of- If on facts premature- Assam Industrial Development Corporation Voluntary Retirement Scheme, 1992, cl.8.1- Writ petition for enforcement of voluntary retirement- If on facts premature.

C. Service Law- Voluntary retirement- Notice of intention to leave or discontinue service as postulated in R. 18 of AIDC Limited (Employees) Service Rules, 1992 and AIDC Limited Recruitment and Promotion Rules, 1992, if necessary even in seeking voluntary retirement- Question left open- Assam Industrial Development Corporation Limited (Employees) Service Rules, 1992, R. 18- Applicability- Assam Industrial Development Corporation Limited Recruitment and Promotion Rules, 1992- Applicability.

58. SICK INDUSTRIAL COMPANIES (SPECIAL PROVISIONS) ACT, 1985 : SECTIONS 17 (3), 18 (2), 22 AND 22-A : BAR OF SUIT : PROCEEDINGS AGAINST GUARANTORS ALSO APPLIES :-
(2000) 6 SCC 545
PATHEJA BROTHERS Vs. ICICI LTD.

Without the requisite sanction, for enforcement of any guarantee in respect of any loan or advance granted to the industrial company, applicable even to such a suit filed against the guarantors. Contention that the bar would apply only when the company itself was the guarantor or was sued by a guarantor on subrogation was rejected by the Supreme Court.

With the courtesy of Eastern Book Company, SCC publishers, the following portion is reproduced :

The respondent filed a suit against the appellant Company for recovery of the loans outstanding against the latter. The guarantors also were impleaded as defendants and the guarantees were sought to be enforced. By an interim order, the trial court directed the Court Receiver to take possession of the properties mentioned in the exhibit to the plaint. A few days later the appellant's reference for being declared a sick undertaking within the meaning of the Sick Industrial Companies (Special Provisions) Act, 1985 ("the said Act") was registered. Hence, the trial court vacated the interim order in respect of the properties belonging to the guarantors. The trial court took the view that Section 22 of the said Act was not applicable to guarantors. The trial court's order was confirmed by a Division Bench of the High Court. The Supreme Court held that the words of Section 22 are crystal clear. There is no ambiguity therein. It must, therefore, be held that no suit for the enforcement of

a guarantee in respect of a loan or advance granted to the industrial company concerned will lie or be proceeded with, without the sanction of the Board or the appellate authority under the said Act. It is not possible to read the relevant words in Section 22 as meaning that only a suit against the industrial company will not lie without such consent. There is no requirement in Section 22 that, to be covered thereby, a suit for the enforcement of a guarantee in respect of a loan or advance to the industrial company should be against the industrial company.

When the words of a legislation are clear, the court must give effect to them as they stand and cannot demur on the ground that the legislature must have intended otherwise.

Moreover, the scheme prepared under section 17 (3) would provide for the repayment of the loan or advance and, therefore, would take within its ambit the claim on the guarantee; the question of proceeding with the suit against the guarantor would not arise. On the other hand, if the industrial company cannot be revived by a scheme, the embargo under Section 22 would cease to operate.

Section 22 provides that the suit would lie or be proceeded with after the consent of the Board has been obtained. It would, therefore, be open to the claimant on a guarantee to obtain such consent from the Board.

●

59. SPECIFIC RELIEF ACT, SECTION 12 (3) : "ELECTION" :-
(2000) 7 SCC 379
SURJIT KAUR Vs. NAURATA SINGH

Once an election is made then that party cannot resile or get out of election. Therefore whether the vendee elected not to accept part- performance it was no longer open to him to claim it at a later date. Where a contract is not capable of being performed in its entirety, the readiness and willingness, at all stages held, is the readiness and willingness to accept the part-performance. Where the contract is incapable of being performed and a party categorically refuses to accept part-performance it was held that there is no readiness and willingness at all stages to accept part-performance.

●

60. SPECIFIC RELIEF ACT, SECTION 16 (c) : READINESS AND WILLINGNESS TO PERFORM OBLIGATIONS UNDER THE AGREEMENT- PLEADING AND PROOF:-
(2000) 6 SCC 566
AJAIB SINGH Vs. TULSI DEVI

Supreme Court held that on facts it appears that this factum could not be said to have been proved where the record clearly showed that respondent-plaintiff had not made all the necessary instalment payments under the agreement. More so, when respondent-plaintiff had made averments without regard to the truth. Agreement in this case (i) was for transfer to respondent of one part of suit property, which was originally allotted to appellant by Government, : transfer to be carried out after full payment to Government from funds supplied by respondent; (ii) provided for loan to appellant to pay for the second part of the property; and (iii) included a condition that second part of property would also be transferred to respondent in case loan or any instalment not repaid. The fact that Government did not terminate the contract on account of non payment, it was held would have no

bearing on the fact of respondent not having performed her obligations under the agreement. High Court erred in affirming the decree for specific performance awarded by the trial court to the respondent.

EQUITY : EQUITABLE RELIEF :- Person making averments as per convenience without regard for truth, held, would be precluded from getting equitable relief.

EVIDENCE ACT, SECTION 114 : PRESUMPTION ABOUT RECEIPT :-

Where a party has the receipts for payments made, it was held that it may be presumed that such party made the payment.

●

61. SUCCESSION ACT, SECTIONS 383 AND 384, ORDER REJECTING APPLICATION FOR REVOCATION OF SUCCESSION IS NOT APPEALABLE :-
2000 (3) M.P.L.J. 398
MANJULATA Vs. PEELA BAI

An order refusing to revoke the Sucession Certificate granted under the Indian Succession Act is not appealable and therefore an appeal under Ss. 384 and 385 of the Act is not tenable. Such appeal preferred is not maintainable.

●

62. TRANSFER OF PROPERTY ACT, SECTION 3 Expln. II : "NOTICE" AND "KNOWLEDGE" EXPLAINED: SPECIFIC RELIEF ACT, SECTIONS 9, 19-B AND 20 (2) : DEEMED NOTICE OF TITLE OF PERSON IN ACTUAL POSSESSION :-
(2000) 6 SCC 685
RAM NIWAS Vs. BANO

Under Section 3 of the T.P. Act, the word "Notice" is of wider important than the word "knowledge". A person not having actual knowledge of a fact may yet have notice of it in view of the definition of the expression "a person is said to have notice". Therefore, if a purchaser of immovable property does not inquire into the real nature of tenant's possession he cannot escape the consequences of deemed notice under Expln. II to S. 3 despite the legal right he acquires on the basis of the sale deed executed by him. The respondent purchasers would be deemed to have notice of the agreement to purchase entered into by the appellant tenant with the vendor.

Specific performance is not to be enforced against bona fide purchaser for value without notice.

NOTE :- Please also see Section 53-A of the Transfer of Property Act which also speaks about "Provided that nothing in this Section shall affect the rights of a transferee for consideration who has no notice of the contract or of the part performance there of."

The Expln. 2 to Section 3 of the T.P. Act is reproduced here for ready reference.

Expln. 2 to Section 3 : Any person acquiring any immovable property there in share or interest in any such property shall be deemed to have notice of the title if any, **of any person who is for the time being in actual possession there of.**

●

OPINIONS AND VIEWS EXPRESSED IN THE MAGAZINE ARE OF THE WRITERS OF THE ARTICLES AND NOT-BINDING ON THE INSTITUTION AND FOR JUDICIAL PROCEEDING.